उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो।

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—३ फरवरी—१९८४ अंक २

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल, 'विवेक शिखा' ॥

संपादक

डॉ० केदारनाथ लाभ

सह संपादक

शिशिर कुमार मल्लिक

संपादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

सहयोग राशि

षड् वार्षिक	१०० रु०
त्रैवार्षिक	५५ रु०
वार्षिक	२० रु०
एक प्रति	२ रु० ५० पैसे

रचनाएँ एवं सहयोग - राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

किसी ने कहा, "मेरा लड़का हरीश बड़ा हो जाने पर उसका विवाह रचाकर गृहस्थी का भार उस पर सौंप, मैं योग-साधना करूँगा।" इस पर श्रीरामकृष्ण बोले, "तुम्हारे द्वारा कभी साधना नहीं हो सकेगी। बाद में तुम कहोगे, 'हरीश और गिरीश मुझे बहुत ज्यादा चाहते हैं, वे मुझे छोड़ ही नहीं सकते। हरीश के बच्चा हो जाए तो उसे देखकर जाऊँगा।' फिर तुम्हारे मन में इच्छा उठेगी कि 'हरीश के बेटे का विवाह भी देख लूँ।' इस तरह तुम्हारी कामनाओं का कभी अन्त नहीं होगा।"

(२)

यह पूछने पर कि काम क्रोधादि रिपुओं पर कैसे विजय प्राप्त की जाए, श्रीरामकृष्ण ने कहा :—जब तक इन प्रवृत्तियों की गति सांसारिक विषयों के प्रति केन्द्रित रहेगी तब तक ये तुम्हारे शत्रु रहेंगे। परन्तु यदि इनकी गति ईश्वराभिमुख कर दी जाए तो ये ही रिपु तुम्हारे मित्र बन जाएँगे, तुम्हें भगवत्प्राप्ति करा देंगे। सांसारिक विषयों के प्रति जो कामना है उसे ईश्वर की कामना में परिणत करो—क्रोध करो—कहो, क्यों तुम मुझे दर्शन नहीं देते ?' इसी प्रकार सब रिपुओं को ईश्वर की ओर मोड़ दो। इन रिपुओं को नष्ट नहीं किया जा सकता, इन्हें ईश्वराभिमुख किया जा सकता है।"

(३)

यदि मन और मुख एक करके किसी वस्तु के लिए व्याकुल होकर प्रार्थना की जाती है तो वह 'प्रार्थना सफल हुआ करती है। पर जो मुँह से तो कहता है कि 'प्रभो, यह सब कुछ तुम्हारा है', पर मन ही मन सोचता है कि 'यह सब मेरा है' उसकी प्रार्थना का कोई फल नहीं होता।

वैदिक शान्ति वचनानि

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता,
मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम् ,
अविरावीर्म एधि, वेदस्य य आणीस्थः ;
श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधामि,
ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि,
तन्मामवतु, तद्वक्तारामवतु, अवतु माम्,
अवतु वक्तारम्, अवतु वक्तारम् ।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥१॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥२॥

मेरी वाणी मन में प्रतिष्ठित हो, मेरा मन वाणी में प्रतिष्ठित हो। हे स्वप्रकाश ब्रह्म, मेरे निकट प्रकाशित होवो।

(हे वाक्य और मन, तुम सब) मेरे समीप वेदों के अर्थों को लानें में समर्थ होओ। श्रुत-विषय मेरा त्याग नहीं करें। इस अध्ययन के द्वारा मैं दिन-रात संयोजित करूँगा। मैं मानसिक सत्य बोलूँगा, वाचनिक सत्य बोलूँगा। ब्रह्म मेरी रक्षा करें, ब्रह्म आचार्य की रक्षा करें, हम सब की रक्षा करें, आचार्य की रक्षा करें; आचार्य की रक्षा करें। शान्ति हो, शान्ति हो, शान्ति हो ॥१॥

वह (पर ब्रह्म) पूर्ण है, यह भी (नाम रूपस्थ ब्रह्म) पूर्ण है; पूर्ण से पूर्ण उद्गत होता है; पूर्ण का (कार्य ब्रह्म का) ब्रह्मत्व ग्रहण करने से पूर्ण (परब्रह्म ही) अवशिष्ट रह जाते हैं। ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति ॥२॥

सम्पादकीय सम्बोधन

तरी को ले जाओ मँझधार

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

अनेक साधक साधना-पथ में आनेवाली कठिनाइयों से घबड़ाकर हताशा और निराशा के गहन गर्त में गिर जाते हैं। वे या तो अपने गुरु या अपने मंत्र अथवा अपने इष्ट की शक्ति में ही अविश्वास करने लगते हैं। कभी-कभी वे स्वयं अपनी शक्ति में ही अविश्वास कर बैठते और सोचने लगते हैं कि वे साधना करने के योग्य ही नहीं हैं अथवा उनके इस जीवन में सम्यक् साधना हो ही नहीं सकती। हिम्मत हारकर या तो वे साधना छोड़ देते हैं या केवल नियम-पालन के लिए, रस्म-तामिली के तौर पर, बेमन से जप आदि कर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं।

साधक के लिए यह आत्मघाती स्थिति है। जो ईश्वरके भक्त हैं, जिन्होंने अपने जीवन को प्रभु पदाश्रित करने की सोची है, जो आध्यात्मिक जीवन जीने के आग्रही हैं, जिन्होंने अपने को श्रीरामकृष्ण की संतान मानकर साधना-पथ पर यात्रा शुरू की है, उनके लिए घबड़ाने की कोई बात ही नहीं उठनी चाहिए। लेकिन यह सच है कि अनेक साधकों का मन स्थिर नहीं रह पाता। वे शीघ्र अपनी आध्यात्मिक उन्नति होते नहीं देखकर घबड़ा उठते हैं। लेकिन घबड़ाने की, निराश होने की, उत्साहहीन होने की कोई आवश्यकता नहीं। आप साधन के अधिकारी हैं, सिद्धि के नहीं। साधना करना, पूरे मनोयोग से, सर्वतोभावेन, एकाग्र मन से साधना करना ही आपका कर्तव्य है। अपनी साधना की बार-बार परीक्षा लेना और उसमें प्रगति के अंक बैठाना उचित नहीं। आप इसके लिए न तो समर्थ हैं न इसका अधिकार ही है आपको। विद्यार्थी पूरे मनोयोग से अध्ययन करने का अधिकारी है, परीक्षा में अपनी सामर्थ्य और समझ के अनुसार उत्तर देने का अधिकारी है, परीक्षा में लिखे गये उत्तरों की पुस्तिका पर अंक देने का नहीं। यह कार्य परीक्षक का है। परीक्षार्थी परीक्षा भी दे और अपने उत्तरों पर स्वयं अंक भी बैठाये—ऐसा कहीं नहीं होता। अतः साधकों का भी कर्त्तव्य होता है केवल साधना करने का, साधना के पथ पर चलते रहने का—अनवरत, अव्याहत, अप्रतिहत और अथक भाव से चलते रहने का। धन्य हैं वे पुरुष जो अपनी साधना के फल या पुरस्कार की चिन्ता किये बिना ही अपने पथ पर पूरी निष्ठा से, पूरे विश्वास से, सुदृढ़ संकल्प के साथ चलते ही रहते हैं। राजकुमार रोहित को वन में देवराज इन्द्र ने एक अमर सन्देश दिया था—

> **कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।**
> **उत्तिष्ठं त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् ॥**
> **चरैवेति चरैवेति ॥**

अर्थात् सोने वाले का नाम कलि है, अंगड़ाई लेने वाले का नाम द्वापर है, उठकर खड़ा होनेवाला त्रेता है और चलनेवाला कृतयुग है। अतएव, (सारे प्रमादों, जड़ताओं और आलस्यों को त्याग कर) चलते रहो, चलते रहो। यह संदेश प्रत्येक साधक के जीवन का मार्ग-दर्शक बने, तभी साधना चल सकती है।

साधना में हमारी प्रगति नहीं हो रही है, तो भी हम घबड़ाकर साधना में आलस्य क्यों करें? साधना को क्यों छोड़ें? हमें घबड़ाने, हताश होने या शंकालु होने की अपेक्षा इस बात पर ही ध्यान देना चाहिए कि हमारी साधन-निष्ठता में कोई कमी तो नहीं। हम अपने साधन-पथ पर पूरी साहसिकता और पूरी निष्ठा, पूरे आत्म-विश्वास से चल रहे हैं या नहीं! हमें सदैव स्मरण रखना चाहिए—

"निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु ।
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ॥
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा ।
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥"

नीति विशारद पंडित जन निन्दा करें या प्रशंसा, लक्ष्मी आयें या जायें, मृत्यु आज ही हो जाय या युग भर बाद किन्तु, न्याय के पथ से धीर पुरुष कभी विचलित होकर भ्रष्ट नहीं होते। यही है साधना पथ पर वीरता-पूर्वक चलने का भाव। स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक शिष्य से कहा था—"कितने ही तूफान पार करने पर मनुष्य शान्ति के राज्य में पहुँचता है। जो जितना बड़ा हुआ है, उसके लिए उतनी ही कठिन परीक्षा रखी गयी है। परीक्षारूपी कसौटी पर उसके जीवन के घिसने के पश्चात् जगत् ने उसको बड़ा कहकर स्वीकार किया है। जो भीरु, कापुरुष होते हैं, वे ही समुद्र की लहरों को देखकर किनारे पर ही नाव रखते हैं। जो महावीर होते हैं वे क्या किसी बात पर ध्यान देते हैं? 'जो कुछ होना है सो हो, मैं अपना इष्टलाभ अवश्य करके रहूँगा' यही यथार्थ पुरुषकार है। इस पुरुषकार के हुए विना सैकड़ों दैव भी तुम्हारे जड़त्व को दूर नहीं कर सकते।"

साधन-पथ की निष्ठा क्या है? पूर्ण विश्वास के साथ अपनी साधना में निरत रहना। विश्वास, अविचल विश्वास के विना आध्यात्मिक साधना में प्रगति नहीं हो सकती। हम सब जानते हैं कि लंका जाने के लिए समुद्र पार करने के हेतु श्रीरामचन्द्रजी को तो समुद्र पर पुल बनाने की जरूरत पड़ी किन्तु हनुमानजी ने क्या किया? वे तो केवल 'जय राम' कहकर एक ही छलाँग में अनायास समुद्र लाँघ गये। यह है अपने इष्ट और अपने मंत्र में विश्वास और यही है विश्वास की शक्ति।

एक बार प्रभु ईसा मसीह को समुद्र पर पाँव-पैदल चलते देखकर उनके एक शिष्य पीटर ने पूछा—'महाराज, आप समुद्र की उत्ताल तरंगों पर भी पैदल कैसे चल लेते हैं? ईसा ने कहा—'विश्वास के कारण। तुम में यदि सरसों के दाने के बराबर भी विश्वास हो तो तुम भी चल सकते हो।' पीटर ने ईसा का नाम लेकर समुद्र पर चलना शुरू किया। कुछ आगे जाने पर लहरों की ऊँचाई देखकर वह डर गया। सोचने लगा—कहीं डूब न जाऊँ! और सचमुच वह तभी डूबने लगा। वह चिल्ला उठा—'प्रभु, बचाइए। मैं तो डूबा।' ईसा ने तब जाकर उसे हाथ पकड़ कर बाहर निकाल लिया।

किसी राजा के हाथ से ब्रह्महत्या हो गयी थी। इस पाप के प्रायश्चित का नियम पूछने वह एक ऋषि के आश्रम में गया। ऋषि आश्रम में नहीं थे। उनका पुत्र था। उसने राजा की बात सुनकर कहा—'तुम तीन बार राम का नाम ले लो और पाप से मुक्त हो जाओ।' आश्रम में आने पर ऋषि ने अपने पुत्र से जब यह बात सुनी तब वे क्रुद्ध हो उठे। बोले—'जिस राम का नाम एक बार लेने से करोड़ों जन्मों के पाप तुरत कट जाते हैं, वह राम नाम तुमने राजा से तीन बार लेने को कहा। इतना अविश्वास! जा, तू चाण्डाल बन जा।' यही ऋषि-पुत्र रामायण का गुहक चाण्डाल बना।

विश्वास कैसा होना चाहिए? श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे "बालक की तरह सरल विश्वास हुए बिना ईश्वर नहीं मिलते। माँ ने कह दिया कि वह तेरा भैया है, बस उसको सोलह आना विश्वास हो गया कि वह मेरा भैया है। माँ ने कह दिया कि उस कमरे में 'हौआ' रहता है, बालक ने पूरा-पूरा विश्वास कर लिया कि उस कमरे में हौआ' रहता है। इस तरह बालक के जैसा विश्वास देखने पर भगवान को दया आती है। सांसारिक विषय-बुद्धि के द्वारा वे नहीं मिलते।"

श्रीरामकृष्णदेव का ही कथन है—"एक दिन श्रीकृष्ण अर्जुन के साथ रथ पर बैठकर कहीं जाते-जाते आकाश की ओर देख बोल उठे, "देखो मित्र, कितने सुन्दर झुण्ड-के-झुण्ड कबूतर उड़ रहे हैं। अर्जुन ने तुरन्त उस ओर देखकर कहा, 'सचमुच हो सखा, बहुत ही सुन्दर कबूतर हैं।' पर दूसरे ही क्षण श्रीकृष्ण ने फिर से देखकर कहा 'नहीं सखा, ये कबूतर नहीं हैं।' अर्जुन

ने भी देखकर कहा, 'ठीक तो है सखा, ये कबूतर नहीं हैं।' अब इसका अर्थ समझ लें। अर्जुन महान सत्यनिष्ठ था, उसने कृष्ण की खुशामद करने के लिए ऐसा नहीं कहा। परन्तु श्रीकृष्ण की बातों पर उसका इतना विश्वास था, इतनी श्रद्धा-भक्ति थी कि श्रीकृष्ण ने जैसा कहा, उसे वास्तव में वैसा ही दिखाई दिया।'

एक बात और है। हम चाहे लाख साधन-भजन करें, जप-तप करें, धारणा-ध्यान करें लेकिन अगर हमारा जीवन सत्य-निष्ठ, निष्पाप और वासना-विरत नहीं हुआ तो साधना में हम प्रगति नहीं कर सकते। हमें अपनी पूरी जीवन-पद्धति बदल देनी होगी। हमें अपने जीवन को पवित्र, शुद्ध और निरहंकृत बनाना ही होगा। परम सुन्दर को अपने में उतारने के लिए अपने भीतर के घर-आंगन को भी सुन्दर कर लेना होगा। हमें देखना होगा कि जिसका हम आवाहन करते हैं, जिसका ध्यान करते हैं, जिसकी प्रार्थना करते हैं, जिसे प्राणों से पुकारते हैं। उसके स्वागत की तैयारी हमने ठीक से कर ली है या नहीं। हमारे यहाँ कोई मेहमान आनेवाला होता है तो हम अपने कमरे की सफाई शुरू कर देते हैं। झोल-मकड़े हटा देते हैं। पलंग पर साफ चादर बिछा देते हैं। टेबुल पर ताजे फूलों वाले गुलदस्ते लगा देते हैं। आँगन को लीप-पोत देते हैं। क्या यह हमारे लिए उचित नहीं है कि हम अपने प्राणों के पाहुन, जीवन के देवता के आगमन के पूर्व अपने मन-आँगन की सफाई कर लें! उनके लिए हमें शांति की सेज बिछानी होगी। करुणा और दया के कमल सजाने होंगे। सत्य की सुगंध बिखेरनी होगी। पवित्रता का गंगा-जल छिड़कना होगा। निर्वासना की धूप-बत्ती जलानी होगी और समर्पण, निष्कामता तथा अहंकार-शून्यता के रंग-बिरंगे दीपों से झलमलाते झाड़फानूस लगाने होंगे। धर्म की ध्वज पताका फहरानी होगी। आखिर देवता जो उतरेंगे हमारे आँगन में! इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥
(कठ० १-२-२४)

अर्थात् जो पापकर्मों से विरत नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शांत नहीं हुई हैं, जो समाहित चित्त नहीं है, जिसका मन अशान्त है, वह पुरुष इस आत्मा को प्रज्ञा द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता।

श्रीरामकृष्णदेव की अमृत वाणी है—"एक किसान ने सारा दिन गन्ने के खेत में पानी सींचने के बाद जाकर देखा कि खेत में बूँद भर भी पानी नहीं पहुँचा है; खेत में कुछ बड़े-बड़े बिल थे और सारा पानी उन बिलों में से होकर दूसरी ही ओर बह गया था। इसी प्रकार, जो व्यक्ति मन में विषय-वासना, मान-यश, सुख सुविधा की आकांक्षा रखते हुए ईश्वर की उपासना करता है, वह यदि जीवन भर भी नियमित रूप से साधना करता रहे तो भी अन्त में यही देखता है कि सारी साधना उन वासनारूपी बिलों में से बाहर निकल गयी है और वह जैसा का तैसा ही रह गया है, तनिक भी प्रगति नहीं कर पाया है।"

एक कविता है। उसका भाव यों है। चारों ओर घना अंधकार है। घटाएँ घिरी हैं। जोरों का वायु-वेग है। सागर गरज रहा है। तरंगें उठ रही हैं। नाव डगमगा रही है। हाथ से पतवार छूट गयी है। कौन पहुँचा देगा उस पार! कवयित्री ने सुन रखा था कि उस पार सोने का संसार है। वहाँ निर्झर अपने नीरव गानों से अमरत्व प्रदान करते हैं। वहाँ के पुष्पों में अनन्त मुस्कान है। सभी में एक स्वर्गीय विकास और कोमल कमनीय प्रकाश है। कौन उसे उस पार पहुँचा देगा। तभी उसके कानों में किसी ने एक मोहक तान सुना दी —

'तरी को ले जाओ मँझधार,
डूब कर हो जाओगे पार;
विसर्जन ही है कर्णाधार
वही पहुँचा देगा उस पार।'

हाँ; हमें अपनी साधना की तरी को, नाव को मँझधार में ले जाना होगा। रुकना नहीं है। झुकना नहीं है। परिस्थितियाँ कितनी भी भयावह क्यों न हों, कितनी भी निराशाजनक क्यों न हों ! पूर्ण विसर्जन—अपने अहंकार का विसर्जन, अपनी कामनाओं-वासनाओं का विसर्जन, अपनी अस्मिता का विसर्जन ही पतवार है। तभी हम उस पार परम चेतना के देश में, परम आनन्द के स्वर्गीय आलोक से भरे लोक में—जा सकते हैं। हमें साहस रखना ही होगा। हम डूबकर ही उस पार जा सकते हैं।

कदम चूम लेती है आकर के मंजिल
बशर्ते कि इंसान हिम्मत न हारे।

आध्यात्मिक साधना का, प्रभु के प्रेम का मार्ग ही है आग का दरिया। और साधक को उसमें डूब कर ही पार होना है।

एक लफ्ज मुहब्बत का अदना सा फसाना है
सिमटे तो दिले आशिक, फैले तो जमाना है।
ये इश्क नहीं आसाँ, इतना ही समझ लीजे
इक आग का दरिया है और डूब के जाना है।

हमें श्री रामकृष्णदेव की इस आश्वासन-वाणी में विश्वास रखना चाहिए—"मगर को जल की ऊपरी सतह पर तैरना बहुत अच्छा लगता है, पर उसके ऊपर आते ही लोग उसे मारने को देखते हैं। बेचारा क्या करे, प्राणों के डर से मजबूर होकर उसे पानी के नीचे ही रहना पड़ता है, ऊपर आते नहीं बनता। परन्तु फिर भी बीच-बीच में मौका मिलते ही वह एक बार सूँ-सूँ करता हुआ जल के ऊपर तैर लेता है। हे संसारी जीव, मैं जानता हूँ कि तुम्हें भी सच्चिदानन्द सागर में तैरने की इच्छा होती है, पर स्त्री-पुत्र-परिवार के बोझ के कारण तुम्हें संसार में डूबे रहना पड़ता है। परन्तु फिर भी बीच में मौका पाते ही भगवान का स्मरण करो, व्याकुल होकर उनसे प्रार्थना करो, उन्हें अपना दुःख-कष्ट जताओ। योग्य समय पर अवश्य ही वे तुम्हें मुक्त करेंगे, आनन्द सागर में तैरने की शक्ति देंगे।"

मित्रो, मैं श्रीरामकृष्णदेव से प्रार्थना करता हूँ कि वे हम सबको साधना पथ में अभय-भाव से, पूर्ण विश्वास के साथ, निरन्तर बढ़ते रहने का बल और सच्चिदानन्द-सागर में तैरते रहने की कामना की पूर्ति के लिए अपनी अहेतुकी कृपा प्रदान करें। जय श्रीराम कृष्णदेव ! □

सत्यनिष्ठा और भगवत्प्रेम

—स्वामी प्रेमानन्द

[स्वामी प्रेमानन्द श्रीरामकृष्ण परमहंस देव के अन्तरंग पार्षद थे। बंगला भाषा में लिखित उनके मूल निबन्ध को 'ट्रुथफुलनेस' शीर्षक से अद्वैत आश्रम, कलकत्ता ने अपनी पुस्तक 'द मैसेज ऑफ आवर मास्टर' नामक ग्रंथ मे अनूदित कर संकलित किया है। इस अंग्रेजी निबंध का हिन्दी रूपांतर किया है रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर के ब्रह्मचारी प्रज्ञाचैतन्यजी ने—विवेक शिखा के लिए।—सं०]

धर्म के क्षेत्र में कोरी बातों से कुछ भी होने-जाने वाला नहीं है। पूरे जी-जान के साथ साधना करनी होगी। यदि हम ग्रामोफोन के रेकार्ड के समान शास्त्र-उपदेशों के तोते-रटन्त से संतुष्ट हो जाएँ और आगे बढ़ने का प्रयास न करें तो हमें धर्मलाभ की जरा भी उम्मीद नहीं करनी चाहिए। आन्तरिक अनुभूति ही आध्यात्मिकता की पहचान है। जिसके अन्दर धर्म का बीज है, उसमें इसका क्रमशः अंकुरण होता है। एक विशाल वृक्ष को उगाने के लिए जिस प्रकार बीज की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार सबसे पहले हमारे अंदर आध्यात्मिकता का बीज होना चाहिए, फिर हमें उस वृक्ष को उगाना होगा। हमें अनुभूति के लिये प्रयास करना होगा, अपना मन उसी एक विचार में ढालना होगा। अन्यथा सूक्तियों के ढेर से मस्तिष्क को भरकर बीच-बीच में दूसरों के सामने उसे दुहरा कर बड़े पाण्डित्य का प्रदर्शन किया जा सकता है, परंतु आध्यात्मिकता की उपलब्धि नहीं की जा सकती। श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे कि पण्डितगण गिद्धों

के समान हैं, जो उड़ने तो वायु में काफी ऊँचाई पर हैं, परन्तु उनकी दृष्टि सड़े मुर्दों की खोज में अर्थात् काम और कंचन पर ही लगी रहती है।

आध्यात्मिक होने के लिए सर्व प्रथम सत्यनिष्ठा की जरूरत है। यहाँ तक कि प्राणरक्षा तक के लिये भी सत्य को न छोड़ना चाहिये। भगवान् सत्यस्वरूप हैं और वे सत्यनिष्ठ व्यक्ति के वश में हैं। जो व्यक्ति मनसा वाचा कर्मणा सत्य का पालन नहीं करता, उसके लिए धार्मिक होना असंभव है और उसकी सारी साधना व्यर्थ है। अतः सर्वप्रथम प्राणपण से दृढतापूर्वक सत्यनिष्ठ बनो। भूत, वर्तमान और भविष्य सभी कालों में एकमात्र सत्य की ही जय होती है।

धर्म क्या है? सिद्धान्त के रूप में बहुत से लोग इसे काफी कुछ समझते हैं, परंतु खेद की बात है कि अपने ज्ञान को व्यावहारिक रूप देने वाले लोगों की संख्या कितनी अल्प है। जो सत्य का पालन करता है, सिर्फ उसी को उपलब्धि होगी। बहुधा लोग कहते हैं कि व्यापार में सत्य का पालन असंभव है। परंतु मेरा इसमें विश्वास नहीं है। जहाँ सत्य का राज्य है वहाँ पर भगवान स्वयं ही निवास करते हैं। यदि एक व्यापारी अपने घर में सत्य की प्रतिष्ठा करता है तो वह सभी धार्मिक व्यक्तियों में श्रेष्ठ माना जायगा और उनके व्यापार में उन्नति अवश्यम्भावी है। नाग महाशय* की सत्य के प्रति बड़ी श्रद्धा थी। एकबार वे कुछ खरीदने बाजार गये। दुकानदार ने उनसे उस वस्तु की कीमत के रूप में चार आने माँगे। सत्यनिष्ठ होने के कारण उन्होंने दुकानदार पर विश्वास कर लिया और मोल भाव नहीं की। निकट खड़े एक व्यक्ति ने उन्हें चार आने देते देखकर विस्मयपूर्वक सोचा—"कैसे आदमी हैं ये! जरा-सा भी मोल-भाव नहीं किया इन्होंने!" परंतु जब उसे पता चला कि वे संत नाग महाशय हैं, जिनके मन में छल-प्रपंच की धारणा तक नहीं है, तो उसने दुकानदार को दो आनें की चीज के चार आने वसूल करने के लिये बुरा-भला कह सुनाया। दुकानदार के दिल में यह बात घर कर गयी। अतः दूसरे दिन जब नाग महाशय पुनः उसकी दुकान पर कुछ खरीदने को आये तो उसने पाँच आने की चीज के सिर्फ दो आने माँगे। इस पर नाग महाशय हाथ जोड़कर दुकानदार से बोले—"आप मेरे साथ ऐसा व्यवहार क्यों कर रहे हैं? इस वस्तु की कीमत दो आने से अधिक होगी। आप मुझसे उचित मूल्य लीजिये।" इस पर वह दुकानदार भाव-विभोर होकर संत के चरणों में नत हो गया। इसीलिए मैं कहता हूँ कि यदि तुम सत्य को पकड़े रहो, तो कभी भी घाटे में ना रहोगे। अगर तुम सत्यनिष्ठ रहे तो तुम पर भगवान् की कृपा अवश्य ही होगी, और सांसारिक उन्नति के साथ ही साथ आध्यात्मिक प्रगति भी होगी।

यदि तुम्हारे अंदर सत्यनिष्ठा है, तो बाकी सभी गुण, यहाँ तक कि आत्मसंयम भी अपने आप तुम्हारे अंदर आ जायेंगे। परन्तु इस सत्यनिष्ठा को खो बैठने के कारण ही हमारी यह दुर्गति हुई है और हम कष्ट व अवनति के बोझ से दबे कराह रहे हैं। अब इसी सुधार के लिए हमें पूरा प्रयास करना चाहिए—परन्तु सिर्फ पोथी बातों के द्वारा ही नहीं, वरन् पूर्ण मनोयोग और कर्मठता के साथ। धर्मसाधना की प्रमुख बात है—जीवन में सच्चाई—आंतरिक जीवन के साथ बाह्य आचरण का साम्य, मन और मुख को एक करना। वर्तमान में हम सोचते कुछ हैं और बोलते कुछ और। अतः हम मिथ्याचारी हैं। यह अज्ञान और भ्रम का द्योतक है। जो कोई भी आध्यात्मिक बनना चाहता है, उसे बातें बनाना छोड़कर साधन-भजन में लग जाना चाहिये। ऐसे व्यक्ति के ऊपर ही परमात्मा की कृपा होती है और उसकी इहलोक तथा परलोक दोनों की उन्नति होना निश्चित है।

गीता में श्रीकृष्ण, इसी जीवन में मुक्ति पाने के लिये हमें अनासक्त होकर कर्म करने की सलाह देते हैं। यह एक मनगढ़ंत बात या एक असामान्य मस्तिष्क की

* श्रीरामकृष्णदेव के एक गृही शिष्य।

कपोल कल्पना नहीं है। हमने अपनी खुद की आँखों से ऐसे जीवन देखे हैं। हमें भी इसी जीवन में मुक्ति की प्राप्ति करनी होगी। भले ही इसके लिये हमें अपना सर्वस्व बलिदान कर देना पड़े, पर हमें इसकी प्राप्ति करनी ही होगी। नहीं तो फिर धर्म, भक्ति आदि की बड़ी बड़ी बातें, जीवन में अनुभूत हुए विना कोरी बातें ही रह जायेंगी। मुक्तिलाभ किये बिना हम शुद्ध-भक्ति की प्राप्ति नहीं कर सकते। हम जीवन की चाहे जिस अवस्था में भी क्यों न हों, हमें अपने पूर्ण आत्मबल के साथ कहना चाहिये कि हम जीवन्मुक्त होंगे ही। परन्तु इसके लिये हमें अपने सम्पूर्ण जीवन को उत्सर्ग कर देना होगा। बहुत से लोग भक्ति की बातें सुनना पसंद करते हैं, और यह सुनने में आनंददायक भी है; परन्तु जब हम इसकी साधना करना चाहते हैं, तो मानो इसके लिये हमें अपना सर्वस्व न्यौछावर करना पड़ता है।

एकबार एक व्यक्ति भगवत्प्रेम की प्राप्ति करना चाहता था। उसी समय उसने देखा कि एक फेरीवाला अपने सिर पर एक टोकरी लिये हुए सड़क पर हाँक लगाते हुए चला जा रहा है—"प्रेम लो! किसको प्रेम लेना है? कोई प्रेम खरीदेगा, प्रेम?" इस पुकार को सुनकर कुछ बच्चे चिल्लाये—"हम लेंगे, हम प्रेम खायेंगे!" कुछ वयस्क लोग भी बोल उठे—"हम चाहते हैं प्रेम, हम इसे खरीदेंगे।" इस पर फेरीवाले ने अपने सिर पर से टोकरी उतारते हुये कहा—"आइये, बोलिये, आप में से किस-किस को कितना कितना प्रेम चाहिये? मैं प्रेम वजन के अनुसार बेचता हूँ। कितना चाहिये जी? एक पौण्ड?" यह कहते हुए उसने एक तेज धारवाला छुरा निकाला और पुनः बोला—"इधर देखिये, इससे अपना सिर काटकर दीजिये और आपके सिर के वजन के बराबर ही मैं प्रेम दे दूँगा।"

यदि तुम्हें प्रेम चाहिये तो तुम्हें इसकी कीमत देनी होगी और कीमत है तुम्हारा सिर। किसी ने भी दिखावेपन या थोथी बातों के द्वारा धर्मजीवन की उपलब्धि नहीं की है। इसकी एकमात्र कीमत बलिदान, महान् आत्मत्याग ही है। तुमने राधिका के बारे में नहीं सुना है क्या? उन्होंने अपना सर्वस्व, जिसे कि लोग अपने जीवन में इतना प्रिय मानते हैं, त्याग दिया था, इसीलिये तो उन्हें उनकी प्राप्ति हुई थी। हमलोगों ने स्वयं भी ऐसे जीवन देखे हैं। श्रीरामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द, नाग महाशय तथा अन्य लोकोत्तर चरित्र हमारी दृष्टि के सम्मुख सदा जाज्वल्यमान हैं। यदि आध्यात्मिकता की चाह हो तो ऐसे उदाहरणों का अनुकरण करो। पत्नी; पुत्र, धन, व्यवसाय, जीवन की सारी सुवधाएँ और साथ ही साथ धर्मलाभ भी करना असंभव है। तुम्हें सर्वस्व छोड़ना होगा और तभी तुम्हें धर्मजीवन तथा आध्यात्मिकता की प्राप्ति होगी।

■

स्वार्थपरता, अपने विषय में ही पहले सोचना, ही सबसे बड़ा पाप है। जो यह सोचता है, "मैं पहले भोजन करूँगा, दूसरों की अपेक्षा मुझे अधिक धन होगा, और मैं सब कुछ रखूँगा!" जो यह सोचता है, "मैं दूसरों से पहले स्वर्ग जाऊँगा, मैं दूसरों से पहले मुक्ति पाऊँगा" वह स्वार्थी व्यक्ति है। स्वार्थहीन व्यक्ति कहता है, "मैं अंतिम होऊँगा, मैं स्वर्ग जाने की चिन्ता नहीं करता, मैं नरक तक जाऊँगा अगर इससे मैं अपने भाइयों की सहायता कर सकता हूँ।" यह निःस्वार्थता ही धर्म की कसौटी है। यह निःस्वार्थता जिसमें जितनी अधिक है वह उतना ही अधिक आध्यात्मिक और शिव के समीप है।

—स्वामी विवेकानन्द

भारतवासियों का आध्यात्मिक जीवन

—श्रीमत् स्वामी अनन्यानन्दजी महाराज
अध्यक्ष, अद्वैत आश्रम, मायावती, हिमालय

संस्कृत में एक श्लोक है जो एक अत्यंत उच्च भाव को अभिव्यक्त करता है, जिसे अधिकांश भारतीय, निश्चय ही सभी हिन्दू, सहजता से समझते और मानते हैं। श्लोक में कहा गया है : "जिस तरह आकाश से गिरता हुआ पानी समुद्र में जाता है, उसी तरह विभिन्न देव-देवियों को अर्पित किये गये नमन ईश्वर को ही पहुँचते हैं।" सभी धर्मों के प्रति हिन्दुओं का यही आधारभूत दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण भारत में अत्यंत ही प्राचीन है--वेदों के इतना प्राचीन—जिनका उद्गम इतिहास की धुँधली सीमा के पार है। वेदों ने ही सर्वप्रथम इसका उद्घोष किया, जब उन्होंने बताया कि "सत्य एक है, 'जो है'; ऋषिगण विभिन्न प्रकार से इसका वर्णन करते हैं।"१ कालांतर में, 'भगवद्गीता' में जो समग्र हिन्दू धर्म का सार है, इसी भावधारा को हम श्रीकृष्ण क, जो स्वयं ईश्वर माने गये हैं—शब्दों में अभिव्यक्त होते हुए पाते हैं। वे कहते हैं : "जो जिस प्रकार से, सकाम भाव से अथवा निष्काम भाव से, मुझे भजते हैं, उनको मैं वैसे ही उनका अपेक्षित फल प्रदान करने के द्वारा, भजता हूँ—उन पर अनुग्रह करता हूँ। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि जो सकाम भाव वाले मनुष्य मुझे छोड़कर इन्द्रादि देवतओं को ही भजते हैं, उनकी मैं उपेक्षा करदेता हूँ; क्योंकि इन्द्रादि के सेवक भी सब प्रकार से मेरे ही भजन-मार्ग का अनुकरण करते हैं, कारण कि इन्द्रादि देवतओं के रूप में भी मैं ही सेव्य हूँ।"२ मध्ययुग के किसी रहस्यदर्शी ने लिखा था : "विभिन्न प्रकार के दीपों में विभिन्न प्रकार के तेल हो सकते हैं; वत्तियाँ भी विभिन्न प्रकार के द्रव्यों से बनी हो सकती हैं; किन्तु जब वे जलती हैं, हमें एक ही प्रकार की ज्वाला या प्रकाश की शिखा मिलती है" और हमलोगों के वर्तमान युग में यही भावधारा मूर्त्त हुई थी श्रीरामकृष्ण देव के शरीर-विग्रह में, जिन्होंने सभी धर्मों में निहित एकमेव सत्य के अनुभव के पश्चात् यह महान् घोषणा की थी कि "जितने अनेक दृष्टिकोण हैं, उतने ही अनेक साधन-पथ हैं।" यह भावधारा—यह दृष्टिकोण-कि ईश्वर एक है और सभी धर्म अनन्तः उसी एक ईश्वर तक ले चलते हैं, हिन्दू-धर्म में आधारगत या मूलभूत है।

भारत जैसे देश के लोगों के जीवन एवं विचारों के किसी आयाम का अनुशीलन करने के क्रम में, हमें अपने मन में दो संदर्भों का ध्यान रखना पड़ेगा : प्रथम, भारत का भौगोलिक अतिविस्तार एवं इसकी जनसंख्या; द्वितीय, इसका सुदीर्घ, चित्र-विचित्र इतिहास जो कई एक हजारों वर्षों का है। भारतीय संस्कृति एवं जीवन की चकित करनेवाली विविधता के ये दो नियामक कारण रहे हैं—भाषा, रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार, भोजन, वस्त्र आदि की विविधताओं के कारण। इतना ही नहीं, भूखण्डों की भौगोलिक रूप-रेखाओं की विविधता—जलवायु, पर्वतों एवं नदियों, पशु-वनस्पतियों की विविधताएँ और यहाँ तक कि अनेक मानव-कोटियों की बहुविध धाराओं का प्रवाह जो सब मिलकर आज करीब पैंसठ करोड़ की आवादी वाले विशाल भारतीय जन-सागर ही बन चुके हैं। भारत की भूमि उत्तर से दक्खिन लगभग दो-हज़ार तथा पूरब से पश्चिम एक-हजार आठ सौ मीलों तक फैली हुई है। उपर्युक्त विविधताओं के बावजूद, इस सम्ग्र भूमि पर निवास करने वाले भारतीय लोगों के आध्यात्मिक जीवन में एक मौलिक एकता है। इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि पोशाक, भाषा, रीति-रिवाज आदि की विभिन्नताओं तथा विविधताओं के बावजूद, समग्र भारत के लोगों ने एक सामान्य

श्रीधरी टीका: हिन्दी अनुवाद

१. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।

२. ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥
गीता : अध्याय-४.

आध्यात्मिक परंपरा को ही विरासत में अर्जित किया है।

'हिन्दुत्व' या 'हिन्दू-धर्म' शब्द की थोड़ी व्याख्या यहां आवश्यक है। भारत के प्राचीन धार्मिक साहित्य में 'हिन्दुत्व' के समतुल्य या अनुरूप कोई शब्द हमें नहीं मिलता है। वहां हिन्दुओं के धर्म के लिए 'सनातन-धर्म' या 'वैदिक-धर्म',जैसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं। 'हिन्दू' शब्द 'सिन्धु' से बना है जो एक नदी का नाम है। प्राचीन फारसवासी सिन्धु-घाटी तथा देश के शेष भागों में रहने वाले लोगों को इस लिए 'हिन्दू' कहते थे कि संभवतः वे 'सिन्धु' का उच्चारण नहीं कर सकते थे। इस तरह सिन्धु हिन्दू हो गया। और हिन्दुओं का धर्म 'हिन्दुत्व' से अभिहित हुआ जो आज वेदों एवं उपनिषदों के धर्म के अर्थ में लिया जाता है। भारतीय धार्मिक साहित्य में प्रयुक्त 'वैदिक धर्म' या 'सनातन धर्म इसके लिए उपयुक्त संज्ञा है। स्वयं 'हिन्दुत्व' शब्द भी काफी पुराना है और अधिकांश भारतीय के द्वारा माने जाने वाले धर्म के अर्थ में इसका प्रयोग समीचीन ही है।

हिन्दू-धर्म विश्व के व्यापक जीवंत धर्मों में एक है, किन्तु यह उनमें सर्वाधिक प्राचीन है। इसके उद्भव के संबन्ध में कोई लिखित इतिहास नहीं है। जहां बौद्ध, ईसाई तथा इस्लाम धर्म किसी तारक-उद्धारक, मसीहा या अवतार के जीवन एवं उपदेशामृतों पर आधारित हैं, वहां हिन्दू-धर्म किसी एक विशेष द्रष्टाऋषि या मसीहा पर आधारित नहीं है। इस अर्थ में, हिन्दू-धर्म को एक निर्वैयक्तिक धर्म होने का दावा है। यह अपने उद्भव के लिए किसी व्यक्ति-विशेष का ऋणी नहीं है। हिन्दू-धर्म वेदों पर आधारित है जो सर्वाधिक प्रामाणिक धार्मिक वाङ्मय हैं। और वे पीढ़ी दर पीढ़ी श्रुति के माध्यम से प्रदत्त एवं संजीवित हैं।

विशाल वैदिक साहित्य चार अंगों में विभक्त है। प्रथम भाग में वैदिक देवों तथा देवियों के प्रति स्तुतियां अर्पित की गयी हैं। द्वितीय भाग में वैदिक यज्ञ एवं कर्म-कांडों का वर्णन है। तृतीय खण्ड में इन यज्ञों तथा कर्म-कांडों को प्रतीक मानकर उनकी दार्शनिक व्याख्या की गयी है। वेदों का चतुर्थ अंग जिसे उपनिषदों के रूप में माना जाता है, उनके वास्तविक दर्शन को अभिव्यक्त करता है। सामान्यतः वेदों के अंत में आने के कारण तथा उनके सार-स्वरूप दर्शन एवं धर्म को प्रस्तुत करने से उपनिषदों को वेदान्त कहा गया है। इस विश्व-ब्रह्मांड के संबन्ध में—मानव एवं प्रकृति दोनों की गहराई में निहित सत्य के संदर्भ में—कुछ अत्यंत उच्चस्थ एवं उदात्त विचार इन उपनिषदों में मिलते हैं।

हिन्दू-धर्म की सर्वाधिक लोकप्रिय पुस्तक, भगवद्-गीता में उपनिषदों की शिक्षा का सार-तत्व प्राप्त होता है। आधुनिक भारत के निर्माताओं में एक तथा आज से नब्बे वर्ष पूर्व पश्चिम में वेदांत-संदेश-रत्न लानेवाले एवं उन देशों में उनका प्रसार करनेवाले स्वामी विवेकानन्द ने 'गीता' को "उपनिषदों से संग्रहीत आध्यात्मिक सत्यों के सुन्दर पुष्पों का गुलदस्ता" के रूप में वर्णित किया है। महान् चिंतक एवं लेखक, आल्डस हक्सले ने कहा है कि "गीता—सनातन दर्शन के लिखित सारांशों में सर्वाधिक समग्र, पूर्ण एवं स्पष्ट" है। आधुनिक भारत के सर्वाधिक महान् दार्शनिकों में एक डॉ. राधाकृष्णन् ने कहा है कि "गीता समग्र हिन्दू-धर्म को अभिव्यक्त करती है—यही नहीं, वल्कि देश-कालातीत सार्वभौम धर्मतत्व को ही।" यह कहना अतिरंजना नहीं है कि भारत, विशेषतः आधुनिक भारत, आध्यात्मिक दृष्टि से श्रीमद्भगवद्गीता के उपदेशों के सांचे पर ढला हुआ है।

ईसाई-धर्म या इस्लाम-धर्म की तरह हिन्दू-धर्म मात्र एक ही धर्म नहीं है। यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि हिन्दू-धर्म जीवन के आधारभूत सत्य, ईश्वर की ओर जानेवाले विभिन्न प्रकार के मार्गों का संघ है। यह किसी सिद्धांत-समूह या रूढ़-मतवाद अथवा विशेष विश्वास पर जोर नहीं देता है जिसका मानना सबके लिए अनिवार्य हो। जैसा पहले कहा गया है, इसकी भावना ऐसी है कि अनुसंधान के विभिन्न मार्गों के अनु-रूप सत्य अपने को विविध प्रकार से अभिव्यक्त करता है और उनमें से प्रत्येक की प्रामाणिकता स्वीकृत एवं समा-दृत है। दृष्टिकोण की इस सार्वभौम उदारता के कारण हिन्दू-धर्म में ऐसी विविधता है कि बाहर से देखने वाले को यह विभ्रमित करनेवाली लगती है।

भारत में धर्म संघों एवं सम्प्रदयों की विविधता के बावजूद हम उन सब में मानवीय चेतना के ऐक्य की आश्चर्यजनक अभिव्यक्ति पाते हैं, क्योंकि आध्यात्मिक पूर्णता का मौलिक लक्ष्य उन सब में समान रूप से है। इस संदर्भ में डॉ० राधाकृष्णन् की महत्वपूर्ण उक्ति है : "आध्यात्मिक लक्ष्य पर जोर देने के कारण अनेक विभिन्न प्रकार के उपासक एक सूत्र में बँधे हुए थे और इस तरह हिन्दू लोग मिथ्या आध्यात्मिक श्रेष्ठतावाद से बच गये।"

हिन्दू धर्म का विश्वास है कि ईश्वर व्यक्तिगत और निर्वैयक्तिक, सगुण और निर्गुण, दोनों ही है। वह एक निर्वैयक्तिक, परमसत्ता मात्र नहीं है, बल्कि उसके रूपाकार भी हैं। उसका प्रत्येक व्यक्तिगत रूप अनिवार्यतः मानवीय है, मनुष्याकार है, मानो ईश्वरत्व मानव-तत्वों में अभिव्यक्त हो। इतना ही तथ्य नहीं है कि ईश्वर ने मनुष्य को अपने ही बिम्ब में निर्मित किया, बल्कि यह भी कि मनुष्य ने भी ईश्वरकी धारणा अपने ही रूपाकार के अनुसार की। मनुष्य ने ईश्वर को मानवीय रूप प्रदान किया तथा उनमें उच्चतम गुणों एवं विशेषताओं की स्थापना की। उसने अनंत सौन्दर्य, माधुर्य एवं ऐश्वर्य के परम अधिष्ठान के रूप में उनका वर्णन किया।

ईश्वर प्रकृति का स्वामी है। इस ब्रह्मांड की रचना उन्होंने की है, और यह उन्हीं से पालित तथा स्थित रहकर, प्रत्येक कल्पांत में उन्हीं के द्वारा प्रतिहृत होकर उनमें विलीन होता है। वह एक ही परात्पर पुरुष विभिन्न रूप धारण करके सृष्टि की रचना आदि के विधान को नियमित करता है। ब्रह्मा के रूप में ईश्वर संसार की रचना करते हैं; विष्णु-रूप में वे ही इसके पालनकर्त्ता हैं, और शिव के रूप में वे ही इसका संहार करते हैं। विश्व के संबन्ध में सभी हिन्दुओं की ऐसी ही धारणा है।

सर्वाधिक प्राचीन देवों में विष्णु एवं शिव ऐसे देव हैं जो आज भी करोड़ों लोगों के श्रद्धा-विश्वास के परम लक्ष्य हैं। विष्णु से जुड़े हुए धर्म को वैष्णव-धर्म तथा शिव से संबद्ध धर्म को शैव धर्म कहा गया है। इनमें से प्रत्येक धार्मिक संप्रदाय का अपना ही साहित्य है जो अनेक शताब्दियों की अवधि में धीरे-धीरे संपन्न हुआ है। इन दोनों संप्रदायों के अतिरिक्त ईश्वर की एक तीसरी धारणा का विकास भी अत्यंत प्राचीन काल से ही हुआ है। विश्व-ब्रह्मांड की आदि-माता या जगज्जननी के रूप में, नारी के विग्रह में भी ईश्वरकी धारणा एवं उपासना का विकास हुआ है। इस धारणा के आधार पर भी एक धर्म का उद्भव एवं संबर्द्धन हुआ, जिसे शाक्त-धर्म कहा जाता है। इस तरह, सामान्य रूप से कहें तो, वैष्णव, शैव एवं शाक्त—ये तीन प्रकार के धर्म ही हिन्दू जन-मानस का नियमन करते हैं।

विष्णु ने अनेक बार इस धरती पर अवतार लिया— "सत्पुरुषों की रक्षा के लिए, पापियों को दंडित करने के लिए और पृथ्वी पर न्याय एवं धर्म की स्थापना के लिए।"१ उनके अनेक अवतार हैं जिनमें राम और कृष्ण सर्वाधिक प्रमुख हैं तथा करोड़ों लोगों के उपास्य हैं। भगवान बुद्ध भी विष्णु के ही अवतार माने जाते हैं। अवतारों की संख्या सीमित नहीं है। वे अतीत में हुए हैं और भविष्य में भी होंगे। जब भी वास्तविक धर्म की अवनति होती है और अधर्म का प्रसार होता है—इस पृथ्वी पर वे अवतरित होते हैं, अधर्म से मानव को मुक्त करने तथा उसे शांति एवं धन्यता का मार्ग बताने के लिए। मनुष्य के प्रति करुणा के कारण ईश्वर के मानवीय स्तर पर उतरने को 'अवतार' कहा गया है। यहाँ उन्हीं सर्वाधिक प्रमुख देवों तथा अवतारों का उल्लेख हुआ है जिनके भक्त करोड़ों की संख्या में हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दू देव-देवियों की पवित्र शृंखला में और भी बहुसंख्य ऐसे हैं जो अपने-अपने भक्तों के लिए परम पूज्य एवं उपास्य हैं।

इन देवी-देवताओं और अवतारों के साथ-साथ, हिन्दू लोग ईश्वर-तुल्य संतों, ऋषियों तथा रहस्य-द्रष्टा मनीषियों को भी अपनी पूजा-उपासना समर्पित करते हैं

१. यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥ गीता: अध्याय-४.

जो स्वयं ईश्वर का साक्षात् करके संघर्षशील साधकों के लिए पथ-पदर्शक का कार्य करते हैं। इसलिए मात्र देवी-देवताओं के नाम पर ही नहीं, बल्कि इन ईश्वर-पुरुषों के लिए भी मंदिर बने हैं, जहां हजारों हिन्दू प्रतिदिन जाते हैं। संत महात्माओं के जीवन एवं उनके क्रिया-कलापों से संबद्ध स्थान भी तीर्थ-केन्द्रों के रूप में समादृत हैं तथा भक्तगण श्रद्धापूर्वक वहां जाते हैं। ये पवित्र मंदिर एवं तीर्थ-केन्द्र सारे भारत में बिखरे हुए हैं, और लाखों ऐसे छोटे-बड़े केन्द्र-स्थल हैं जो हिन्दुओं को उनके नित्य-प्रति के जीवन में धार्मिक एवं आध्यात्मिक संपोषण प्रदान करते हैं। भारत की नदियां भी पवित्र मानी जाती हैं, और विशिष्ट तिथियों पर उनमें स्नान करना बहुत पवित्र करनेवाला और आध्यात्मिक दृष्टि से लाभदायक माना गया है। हिन्दुओं का पत्रा-पंचाङ्ग विभिन्न देवी-देवताओं की उपासना से जुड़ी हुई पवित्र तिथियों से भरा हुआ है। इन तिथियों पर, बड़े-बड़े पर्व-त्योहारों का आयोजन होता है जो भक्तों के धार्मिक गुणों को विकसित करने के साथ-साथ उन्हें आनन्द और सुख प्रदान करते हैं। इन पर्व-त्योहारों का धार्मिक और धर्म-निरपेक्ष आयाम भी है तथा इसीलिए लोग उत्सुकता-पूर्वक उनकी प्रतीक्षा करते हैं।

हिन्दू धर्म की मौलिक भावधारा, इसका सार्वभौम दृष्टिकोण, इसका निर्वैयक्तिक उद्भव, इसका साहित्य, इसके देवी-देवता एवं अवतार, इसके तीर्थ-केन्द्र तथा त्योहार आदि इसकी सामान्य आकृति की कुछ प्रमुख विवृतियां हैं। अब हम हिन्दू धर्म की सामान्यतः स्वीकृत उन प्रमुख धारणाओं पर विचार करेंगे जिसे सभी सम्प्रदायों एवं उपासना-पद्धतियों के लोग मानते हैं। इस तरह के विचार भारत के षड्दर्शनों में प्रस्तुत हुए हैं। यद्यपि इन विचार-धाराओं में दार्शनिक विषयों के सम्बन्ध में परस्पर मतभेद है तथापि समग्र रूप से हिन्दू-धर्म कुछ ऐसे दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है जो सभी दार्शनिक पद्धतियों में समान रूप से मान्य हैं।

वेदान्त हिन्दू-दर्शनों में सर्वोत्तम माना जाता है। इसके उपदेश प्रत्यक्षतः उपनिषदों पर आधारित हैं तथा आप्तकाम महापुरुषों के आध्यात्मिक अनुभवों से संपुष्ट एवं प्रामाणित हैं। वे प्रामाणिक हैं तथा सभी हिन्दुओं को मान्य हैं। वेदान्त की घोषणा है कि ईश्वर एक है और वही अपने को विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त करता है। वही सृष्टि एवं जीवन का उद्भावक, पालनकर्त्ता तथा परम लक्ष्य है।

ईश्वर विभु अर्थात् सर्वव्यापक है। कोई भी स्थान उससे खाली नहीं है। वह सदैव तथा सर्वत्र है, और इस तरह सभी प्राणियों एवं वस्तुओं का अस्तित्व उसी की चेतना से संपृक्त है। मानव-जीवन ईश्वरीय-शक्ति की उच्चतम अभिव्यक्ति है। समग्र प्रकृति विभिन्न रूपों एवं स्तरों पर ईश्वरीय-शक्ति की अभिव्यक्ति के सिवाय कुछ भी नहीं है। उसी ईश्वरत्व की समग्र एवं पूर्ण अभिव्यक्ति जीवन का लक्ष्य है।

स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू-धर्म के उपदेशों के सार-तत्व को कुछ ही वाक्यों में बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। उनकी घोषणा है :

> "प्रत्येक जीवन में ईश्वरत्व निहित है।
>
> बाह्य एवं आंतरिक प्रकृति के संयमन के द्वारा इस अन्तर्निहित ईश्वरत्व को अभिव्यक्त करना ही परम लक्ष्य है।
>
> इसे करो—कर्म, भक्ति, राज या ज्ञान योग के द्वारा—इनमें से किसी एक, एक से अधिक अथवा सभी के द्वारा—और स्वाधीन हो जाओ।
>
> यही धर्म की पूर्णता है। सिद्धान्त, मत, कर्मकाण्ड, शास्त्र, मन्दिर, रूप-विग्रह आदि इनके मात्र गौण विवरण हैं।"

इन कुछ वाक्यों में ही समस्त हिन्दू-धर्म का तात्पर्य सन्निहित है—इसके धर्म-तत्व, दर्शन, नीतिशास्त्र एवं मनोविज्ञान का सार सर्वस्व।

हिन्दू-धर्म जीवात्मा की सत्ता मानता है, और कहता है कि परमात्मा उसमें निहित है। प्रत्येक जीव में ईश्वरीय-स्फुलिंग निवास करता है और जीवन का लक्ष्य उस ईश्वरत्व को प्रकट करना है। मनुष्य में पूर्व से ही निहित इस ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति, धर्म की

परिभाषा है। हिन्दू-धर्म अनन्त नरक-यातना में विश्वास नहीं करता है। मनुष्य को उतना ही पूर्ण होना है "जितना स्वर्ग में उसका परम पिता पूर्ण है।"

हिन्दू-धर्म समस्त सत्ता के आध्यात्मिक ऐक्य की घोषणा करता है। एक असीम, अनन्त, सर्वव्यापी ब्रह्म ही सभी व्यष्टि जीवों में अभिव्यक्त हो रहा है। वस्तुतः सभी जीव एक हैं; उनकी विभिन्नताएँ ऊपरी और भ्रामक हैं। जीव-सत्ता की इस आत्मिक एकता के सत्य का ज्ञान आध्यात्मिक अनुभवन में संभव होता है। मन के संयमन एवं आध्यात्मिक अनुशासनों के द्वारा उसे शुद्ध करके प्रत्येक व्यक्ति में निहित ईश्वरत्व को अभिव्यक्त किया जा सकता है। हिन्दू-दर्शन के अनुसार यह आध्यात्मिक अनुभूति ही धर्म का लक्ष्य है।

हिन्दू-धर्म मानता है कि इस परम लक्ष्य को उपलब्ध होने के लिए अनेक साधन-पथ हैं। धर्म-मार्गों की विविधता को यह न केवल स्वीकार करता है बल्कि उनका स्वागत करता है। यह मानता है कि व्यक्तियों की आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न हैं। हिन्दू-धर्म इस तथ्य से अवगत है कि मनुष्यों में नाना प्रकार के स्वभाव, संस्कार एवं अभिरुचियाँ हैं, और, इसी कारण से वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसके स्वभाव के अनुसार साधन-प्रक्रिया प्रदान करता है।

जिस प्रकार मनुष्यों की शारीरिक रूप-रेखा, आकृति एवं योग्यता में पारस्परिक वैभिन्य होता है, उसी प्रकार उनकी आध्यात्मिक योग्यता एवं साधन-सामग्रियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं, और इस तरह विभिन्न मनुष्य आध्यात्मिक विकास के विभिन्न स्तरों पर होते हैं। अतः हर प्रकार की मानसिक एवं हार्दिक अभिरुचि के लिए उपयोगी होने के हेतु धार्मिक-प्रक्रियाओं में भी विविधता की आवश्यकता है। अपने इस उदार दृष्टिकोण के कारण हिन्दू-धर्म न केवल अपने विशाल वृत्त में प्रचलित विभिन्न धार्मिक प्रक्रियाओं की आवश्यकता स्वीकार करता है; बल्कि दूसरे धर्मों को भी उसी एक परमेश्वर की ओर जाने के मार्गों की तरह मानता है। यहाँ वह अपनी विश्व-जनीनता और स्वीकृति की उदार भावना को प्रकाशित करता है। हिन्दू-धर्म की मूल चेतना मात्र सहिष्णुता नहीं; बल्कि 'स्वीकृति' है। यह सभी धर्मों को स्वीकार करता है क्योंकि उनके प्रेरणा-स्रोत एक हैं और लक्ष्य भी एकमात्र ईश्वर है।

हिन्दू-धर्म सभी धर्मों की एकता में विश्वास करता है। धर्म को लेकर उसे किसी से झगड़ा नहीं है। उसकी चेतना में कोई हठधर्मिता, संकीर्णता और परिच्छिन्नता नहीं है। यह किसी अ-नमनीय मतवाद या अपरिवर्तनीय सिद्धान्त का अनुसरण किया जाना सबके लिए आवश्यक नहीं समझता है। इसका दायरा विस्तृत है। हिन्दू-धर्म उपासना के प्रत्येक स्वरूप को सत्य और कुछ विशेष प्रकार के लोगों के आध्यात्मिक विकास में सहायक मानता है। इस प्रकार सभी धर्म इसके अन्तर्गत हैं। इसमें सर्वाधिक जोर इस बात पर है कि किसी भी साधन-प्रक्रिया का अवलम्बन हम क्यों न करें, उसे गंभीरता से लें और वास्तविक श्रद्धा-विश्वास तथा आध्यात्मिक उत्साहपूर्वक सम्यक् अभ्यास करें।

मोटे तौर पर, मनुष्य के लिए अपने आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करने के उद्देश्य से, उसके व्यक्तित्व की संरचना के अनुसार ही हिन्दू-धर्म में चार प्रकार के धर्म-पथों या योगमार्गों का प्रणयन व प्रस्तुतीकरण हुआ है। वे मार्ग भक्ति-उपासना, प्रभु समर्पित निष्काम-कर्म, मनः संयम और ज्ञान-दर्शन के मार्ग हैं। यहाँ इन्हीं चार मार्गों का उल्लेख पर्याप्त होगा और इन विषयों का विस्तृत विश्लेषण संभव नहीं है। जैसा पहले बताया गया, श्रीमद्भगवद्गीता इन विभिन्न मार्गों का विस्तारपूर्वक वर्णन करती है। स्वामी विवेकानन्द ने इन चारों योग-मार्गों पर चार पुस्तकें लिखकर सभी संदर्भों में इनका समग्र एवं विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है।

हिन्दू-धर्म व्यावहारिक है। यह मानव के समक्ष जीवन की पूर्ण एवं समन्वित योजना रखता है जिसमें आध्यात्मिक पूर्णता के साथ ही संसार में भी स्वस्थ एवं सुखी जीवन प्राप्त करने का लक्ष्य है। हिन्दू-लोग पर-लोक के लिए ही नहीं, इस संसार की दृष्टि से भी धार्मिक हैं। इसलिए भारतीय ऋषि-महर्षियों ने उनके

अनुसरण करने के लिए द्विविध आदर्श बताये थे। उन्हें सुखी एवं स्वस्थ रहने के लिए कार्य करना चाहिए तथा साथ ही, आध्यात्मिक पूर्णता के चरम लक्ष्य का ध्यान भी रखना चाहिए। जीवन की यह योजना चार मूल्यों या पुरुषार्थों—अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष के अनुसरण पर आधारित है। समस्त मानवीय क्रिया-कलाप इन्हीं चारों मूल्यों के अन्तर्गत आते हैं। इस योजना के निर्माताओं को मानवीय स्वभाव की गतिविधियों के संबंध में गहरी अन्तदृष्टि प्राप्त थी, और इस तरह उन्होंने मनुष्यों में अन्तर्निहित वृत्तियों एवं आकांक्षाओं के समाधान तथा उदात्तीकरण के मार्ग प्रदान किये। प्रमादांध होकर धन-सम्पत्ति और विषय-सुख के पीछे दौड़ना कदापि उचित नहीं। आध्यात्मिक लक्ष्य पर दृष्टि रखकर धर्म और नीति का अनुसरण करते हुए उन्हें प्राप्त किया जाना चाहिए। धर्म एवं अध्यात्म के उच्चतम मूल्यों की छत्रछाया और निर्देशन में ही शरीरिक, आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य धर्म निरपेक्ष मूल्यों की प्राप्ति के लिए प्रयास होना चाहिए। हिन्दुओं के सामाजिक संगठन एवं व्यक्तिगत जीवन-पद्धति की योजना इस तरह सूत्र-वद्ध की गयी है कि आसानी से ये पुरुषार्थ सिद्ध हो सकें।

हिन्दुओं के लिए धर्म जीवन-यापन का मार्ग है। धार्मिक मूल्यों को व्यावहारिक जीवन में चरितार्थ करना अनिवार्य है ताकि उनसे हमारा आंतरिक रूपांतरण हो सके। धर्म का लक्ष्य होना चाहिए—मनुष्य की पाशविक वृत्तियों का रूपांतरण, जिससे वह अपने में निहित ईश्वर को अभिव्यक्त करने में समर्थ हो सके। जीवन के प्रत्येक दिन एवं प्रत्येक क्षण सतर्क होकर धर्म-भाव में जीने से ही इसे प्राप्त किया जा सकता है, न कि विशिष्ट पवित्र तिथियों के मात्र औपचारिक धर्माचारों द्वारा ही। इस तरह हिन्दू लोग अपने घरों में रहकर तथा अपने दैनिक जीवन में धार्मिक आचरणों का पालन करते हैं।

अपने धार्मिक जीवन को समृद्ध बनाने के हेतु हिन्दुओं द्वारा अनुष्ठानित अन्य धर्म-कर्म इस प्रकार हैं: जप, उपासना और ध्यान; मन्दिरों एवं पवित्र स्थानों का दर्शन; तीर्थयात्रा, पवित्र नदियों में स्नान, धार्मिक महाकाव्यों तथा पुराणों के पाठ एवं धर्म-शास्त्रों के विवेचन का श्रवण, स्तुति-पाठ एवं भजन-कीर्तन, सन्तों, अवतारों और रहस्य द्रष्टाओं के जीवन-चरित का श्रवण, दान-कर्म, ईश्वर-पूजन-भाव से असहायों की सेवा तथा पवित्र तिथियों और त्योहारों को मनाना। मनुष्य के धार्मिक विकास के लिए ये सभी धर्म-कर्म आवश्यक माने जाते हैं क्योंकि वे उसके चित्त की अशुद्धियों को हटा कर उसे आध्यात्मिक आनन्द एवं धन्यता प्रदान करने में उपयोगी हैं।

एक अत्यन्त प्राचीन उपनिषद् के एक श्लोक में कहा गया है कि "इस संसार की प्रत्येक वस्तु परमात्मा से आवृत है।" ईश्वर न केवल सभी चीजों को आवृत करते हैं, वल्कि वे सभी में स्थित हैं और वस्तुतः, वे ही सब कुछ हैं। संसार के प्रति यही हिन्दू-दृष्टिकोण है। ईश्वर मात्र चारों ओर फैले हुए विश्व-ब्रह्मांड का आधार ही नहीं है वल्कि वह हमारी अन्तरात्मा भी है। मनुष्य के अन्तर्सत्य से विश्व-ब्रह्मांड का परम सत्य भिन्न नहीं है। ये दोनों सत्य एक हैं, परस्पर अभिन्न हैं। इस श्लोक का यही उपदेश है, तथा हिन्दू-धर्म की सर्वोच्च शिक्षा भी यही है। महात्मा गांधी ने इस श्लोक के संबंध में एक बार कहा था: "अगर सभी उपनिषद् एवं अन्य धर्म शास्त्र अचानक जलकर राख हो जाएँ और 'ईशोपनिषद् का प्रथम श्लोक ही हिन्दुओं के स्मरण में सुरक्षित रह जाय तो भी हिन्दू-धर्म सदैव जीवित रहेगा।' प्रत्येक पुण्यात्मा हिन्दू के हृदय में इस श्लोक में अभिव्यक्त जीवन-दृष्टि के जीवंत रहने के कारण हिन्दू-धर्म पूर्ण दृढ़ता एवं शक्ति के साथ जीवित है। वैसे तो समग्र जीवन—सभी प्रकार का जीवन—पवित्र है, किन्तु मानव-जीवन विशेष रूप से पवित्र माना गया है। जीवन के अन्य रूपों की तुलना में, मनुष्य में ईश्वरत्व की अधिकतर अभिव्यक्ति है। मनुष्य ईश्वर के निकटतम है, और इसलिए ईश्वर मनुष्य के निकटतम है। मानव होने के नाते इस सुअवसर का लाभ उठाना चाहिए—मानव-योनि में हुए इस जन्म की अवधि को नष्ट नहीं होने देना चाहिए। आध्यात्मिक

पूर्णता के रूप में जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह मनुष्य-जीवन ही सर्वाधिक उपयोगी यंत्र या माध्यम है। मनुष्य-शरीर ही भगवान का मंदिर है, यही पवित्र आत्मा के पूजन का स्थान है। मानव-देह के रूप में इस बहुमूल्य ईश्वरीय देन का उपयोग उच्चतम कल्याण के लिए होना चाहिए, और एतदर्थ हिन्दू-धर्म मनुष्य को अपनी समस्त शक्तियों का नियोजन इस "आध्यात्मिक-सार-सर्वस्व" को प्राप्त करने के हेतु ही करने की प्रेरणा देता है।

धर्म भारत का मेरुदंड है। यह ऋषि-महर्षियों, संतों एवं रहस्य द्रष्टाओं की पवित्र भूमि है। प्रत्येक युग या शताब्दी में ये पवित्र ईश्वर-पुरुष उत्पन्न होकर अन्य लोगों को न्याय एवं धर्म के पथ पर चलने के लिए मार्ग-दर्शन करते हैं। भारत दर्शन, अध्यात्म, नीति, माधुर्य, शील एवं प्रेम की आदि मातृभूमि है। ऐसा इसलिए कि धर्म यहाँ के लोगों के दैनिक जीवन में एक जीवंत शक्ति के रूप में रहा है; और आध्यात्मिक साधना यहाँ के लोक-जीवन का प्रमुख स्वर रही है। इस क्षेत्र में भारत की उपलब्धि अद्वितीय रही है। पौर्वात्य शास्त्रों के विशिष्ट विद्वान मैक्समूलर ने इस क्षेत्र में इस देश की प्रशंसा करते हुए कहा है; "अगर मुझसे कोई उस आकाश का नाम पूछे जिसके नीचे मानवीय मन ने अपनी बहुमूल्य प्रतिभाओं को सर्वाधिक विकसित किया हो, और, कम-से-कम कुछ लोगों के लिए, इस तरह के समाधान दिये हों जो प्लेटो एवं कांट के अध्येताओं के द्वारा भी स्तुत्य हैं, तो मैं भारत का नाम बताऊँगा और अगर कोई मुझसे पूछे कि कौन वह साहित्य है जो हमें आवश्यक संतुलन प्रदान कर सकता है (हम यूरोपवासियों को जो ग्रीक, रोमन तथा सेमेटिक जाति की विचारधाराओं में एकांगी रूप से पले हुए हैं) ताकि हमारा अन्तर्जीवन और अधिक पूर्ण समग्र, सार्वभौम, संक्षेप में, अधिकतर मानवीय जीवन हो सके, ऐसा जीवन जो इहलोक के लिए ही नहीं, वल्कि एक रूपांतरित तथा शाश्वत जीवन के लिए निमित्त हो सके, तो मैं पुनः भारत की ओर ही संकेत करूँगा।"

अन्य सभी धर्मों के प्रति हिन्दू-धर्म की उदार-भावना को स्वामी विवेकानन्द नें अत्यंत सुन्दर ढंग से इस प्रकार अभिव्यक्त किया है: —"मैं अतीत के सभी धर्मों को स्वीकार करता हूँ तथा उनके साथ उपासना करता हूँ, मैं उनमें से प्रत्येक के साथ ईश्वर की उपासना करता हूँ, चाहे वे किसी रूप में उसकी पूजा क्यों न करते हों। मैं मुसलमानों की मस्जिद में जाऊँगा; मैं ईसाइयों के गिरिजाघर में जाकर प्रभु यीशु के समक्ष घुटने टेककर प्रणति अर्पित करूँगा, बौद्ध-मंदिर में जाकर मैं भगवान बुद्ध एवं उनके धर्म की शरण लूँगा, जंगल जाकर मैं उस हिन्दू के साथ ध्यान में बैठूँगा जो प्रत्येक के हृदय को आलोकित करनेवाली ब्रह्म-ज्योति के दर्शन की चेष्टा या साधना करता है।"

यही हिन्दू-धर्म की बहुमूल्य धरोहर है जिसे हिन्दू ऋषि-मनीषियों एवं संतों ने अपनी संतति के लिए रख छोड़ी है तथा प्रत्येक हिन्दू नर-नारी को इसका गौरव होना चाहिए। इसे अखण्ड एवं तथावत सुरक्षित रखना तथा अपने योगदान से समृद्ध बनाना प्रत्येक हिन्दू नर-नारी का पवित्र कर्त्तव्य है।

—अनुवादक :—शितिकंठ बोधिसत्व

■

ध्यान

—स्वामी सोमेश्वरानन्द
रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना

[प्रस्तुत निबंध स्वामी सोमेश्वरानन्दजी महाराज की बंगला में शीघ्र प्रकाशित होनेवाली पुस्तक 'दैनन्दिन जीवने ध्यान ओ शान्ति' का एक अंश है।—सं०]

ध्यान का उद्देश्य

ध्यान क्यों करें? पहला उत्तर जो मन में आता है वह है, मन को शान्त करने के लिए। डाक्टरी परीक्षणों से देखा गया है कि ध्यान करने से हार्ट (हृदय) की छोटी-मोटी बीमारियाँ दूर हो जाती हैं, रक्त चाप (ब्लड प्रेशर) स्वाभाविक हो जाता है, शरीर के विभिन्न यंत्रों के बीच सामंजस्य होता है, मानसिक तनाव (मेंटल टेन्सन) कम हो जाता है और दुर्बलता दूर होती है। जो नियमित ध्यान करते हैं उन्होंने अनुभव किया है कि ध्यान करने से मन में आनन्द और शान्ति आती है। इस तरह विभिन्न व्यक्ति विभिन्न उद्देश्यों से ध्यान करते हैं। किन्तु, ध्यान का मुख्य उद्देश्य है—सत्य का संधान करना या सत्य को जानना। शारीरिक और मानसिक त्रुटियों को दूर करना, मन को शांत करना आदि ध्यान के गौण उद्देश्य हैं।

हमलोग साधारणतः किस प्रकार जानते हैं? चिंतन (थॉट-वेव्स) की सहायता से। आँखों से कुछ देखा या कानों से कुछ सुना, इसके साथ-ही-साथ मस्तिष्क में एक कार्य शुरू हो गया। मस्तिष्क के इस कार्य का हमने चिन्तन के हिसाब से अनुभव किया। किन्तु, इसके अतिरिक्त भी एक और प्रकार से 'जानना' होता है। ऐसी अवस्था निश्चय ही कभी-कभी आपकी होती है कि किसी दिन अचानक आपके मन में होता है कि अमुक दिन अमुक व्यक्ति आपके घर आयेगा या अमुक व्यक्ति की चिट्ठी आयेगी; और बाद में आपने देखा कि सचमुच वे घटनाएँ घटीं। अथवा यदि आप शिक्षक हैं तो निश्चय ही आप अनुभव करते हैं कि क्लास में पढ़ाने के समय छात्रों के मुख की ओर देखकर ही आप समझ जाते हैं कि कौन पढ़ाई समझ रहा है और कौन नहीं! ये सब कैसे होते हैं? सज्ञा (इनट्यूशन) के द्वारा। मन जभी शांत होता है तभी यह सज्ञा प्रकाशित हो पाती है। अर्थात् जैसे मन में चिन्तन की लहर उठने से कुछ जाना जाता है, उसी प्रकार शान्त मन भी हमलोगों को कुछ जानने में सहायता प्रदान करता है। एक साधारण उदाहरण लिया जाय। फिजिक्स की प्रयोगशाला में वोल्ट-मिटर के बीच से इलेक्ट्रिक करेन्ट पास करने पर यन्त्र की सूई हिल-हिल कर दिखायगी कि आप कितनी वोल्ट बिजली का व्यवहार कर रहे हैं। अथवा घर की इलेक्ट्रिक-मीटर को देखें। आप देखेंगे कि एक छोटी गोल चक्की क्रमागत रूप से घूम रही है। इन दोनों घटनाओं से जाना जाता है कि कुछ चलने से (मूव करने से) दीखता है कि विद्युत ठीक तरह से पास कर रही है। अब टेप रेकार्डर की ओर देखिए। कोई गीत टेप करने के समय प्रकाश की स्थिरावस्था (फिक्स्ड पॉजीशन) प्रमाणित करती है कि टेप ठीक तरह किया गया है। पुराने मॉडल के रेडियो में 'मैजिक आई' लगी रहती थी। इसके प्रकाश के काँपने का मतलब होता था कि ठीक तरह से टिउनिंग नहीं हुई है और प्रकाश के स्थिर हो जाने पर आप समझ लेते कि स्टेशन भली-भाँति पकड़ी जा चुकी है। यहाँ प्रकाश की स्थिरता से दिखाई पड़ता है कि सब कुछ ठीक तरह से चल रहा है। हमलोगों के मन के क्षेत्र में भी इसी प्रकार होता है—चिन्तन की लहर के उठने पर मन को आन्दोलित कर भी हमलोग कुछ जानते हैं और फिर मन को शान्त करके भी जानते हैं। ध्यान के समय इसी दूसरी पद्धति का आश्रय लेना पड़ता है।

सत्य को जानने के लिए वैज्ञानिक और दार्शनिक-गण अनेक युगों से ही चेष्टा करते आ रहे हैं। इन लोगों का चिन्तन मूलतः तीन प्रश्नों को लेकर है— जगत् क्या है, मैं क्या हूँ तथा जगत् और मुझ में क्या सम्बन्ध है ? इन सबको पारिभाषिक शब्दों के सहारे इस प्रकार व्यक्त किया जायगा : प्रथमतः, विषय (Object) क्या है ? द्वितीयतः, विषयी (Subjcct) क्या है ? तथा तृतीयतः विषय और विषयी (Subject और Object) में क्या सम्बन्ध है ? ध्यान की सहायता से भी इन्हीं प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने की चेष्टा की जाती है। ध्यान सबसे अधिक जोर देता है विषयी (Subject) के ऊपर। जिस किसी जानने की क्रिया में मन चूँकि एक आवश्यक अंग है— विषय (Object) को एवं अन्य सभी संबन्धों को भी मन के द्वारा ही हम जानते हैं—अतएव, Subject या मन को पहले जानने की आवश्यकता है। मन को दो प्रकार से जानना होगा—प्रथमतः मन किस प्रकार कार्य करता है एवं द्वितीयतः मन स्वरूपतः (essentially) क्या है ?

मन किस प्रकार कार्य करता है, यह बात दैनन्दिन जीवन के क्रिया-कलापों से जानी जाती है। विभिन्न कार्यों एवं व्यवहारों में अवचेतन मन किस प्रकार कार्य करता तथा चेतन मन को प्रभावित करता है यह जिस प्रकार जाना जाता है, ध्यान के माध्यम से भी उसी प्रकार मन को जाना जाता है। ध्यान में साधक प्रत्यक्ष रूप में अपने अवचेतन मन को जान पाते हैं। अवचेतन मन में क्या है और यह चेतन मन और कार्य को किस प्रकार प्रभावित करता है उसे पकड़ने के माध्यम से ही जाना जाता है कि समग्रगत रूप से मन किस रूप में कार्य करता है। इसी तरह अपने मन को विश्लेषणात्मक रूप से (analytically) जिस प्रकार समझा जाता है, उसी प्रकार मन के उत्स (उद्गम) में भी जाया जाता है ध्यान के द्वारा। मन के उत्स (उद्गम) में जाने पर ही मन के स्वरूप (essential nature) को पहचाना जा सकता है। इस तरह मन को विश्लेषणात्मक और स्वरूपतः जान लेने पर मुख्य तीन प्रश्नों में प्रथम प्रश्न का, अर्थात् subject क्या है यह जाना जाता है। subject अथवा स्वयं को जान लेने पर object एवं subject और object के सम्बन्ध को जानने में असुविधा नहीं होती। अतएव, ध्यान का मूल उद्देश्य सत्य को जानना या उपलब्ध करना है। शान्ति, आनन्द या मन की आन्तरिक शक्ति का प्रकाश करना आदि ध्यान का मूल उद्देश्य नहीं है।

ध्यान की गहनता

पहले पहल ध्यान करने बैठने पर जो सब दूसरे प्रकार के चिन्तन मन में उभर आते हैं, उनको लक्ष्य करने पर आप देखेंगे कि उन सारे चिन्तनों में अधिकांश चिन्तन उस दिन की किसी घटना से सम्बन्धित थे। और अधिक दिन ध्यान करने पर आप देखेंगे कि एक महीना या दो महीने पीछे की घटना मन में उभर उठती है। काफी कुछ दिनों तक ध्यान करने पर कई वर्ष पीछे की घटना को देखेंगे, जैसे कि आपके अपने बचपन की घटना भी चिन्तन का आकार धारणा कर मन में उभर उठी। अर्थात् ध्यान के माध्यम से अव-चेतन मन क्रमशः अपने को व्यक्त करने लगता है, आत्मप्रकाश करने लगता है। अभी प्रयोजन है ध्यान के समय अन्यान्य चिन्तनों में से अवचेतन मन की प्रबल वृत्ति को पकड़ना। किस प्रकार उसे पकड़ा जा सकता है ? जिन्होंने बहुत अधिक दिनों तक ध्यान का अभ्यास किया है वे ध्यान के समय मन में अन्य चिन्तन के उठने पर तुरत उसे दबा देते हैं। किन्तु, जिनका मन इतना शान्त नहीं होता वे काफी कुछ चिन्तन स्रोत के बह जाने के बाद अन्य चिन्तन को पकड़ पाते हैं। ध्यान के समय जभी आप ऐसा समझने लगें कि मन में कोई अन्य चिन्तन चल रहा है, तभी विश्लेषण करना शुरू कर दीजिए कि जिस चिन्तन ने पकड़ लिया है वह किस चिन्तन से आया है। इस तरह सूत्र को पकड़े-पकड़े पीछे जाने पर मन में लगेगा कि प्रथम चिन्तन जैसे स्वतः स्फूर्त रूप में उठा था। इस बार चिन्तन को क्रम-क्रम से सजाकर लक्ष्य कीजिए कि मन का कौन-सा विशेष-भाव इन सब चिन्तनों के बीच सामान्य (Common) है अथवा इन सब से जुड़ा हुआ है। वही भाव हुआ अवचेतन मन की विशेष वृत्ति जो

ध्यान के समय आपको लक्ष्य-भ्रष्ट करना चाहता है। यह विश्लेषण ध्यान के समय नहीं करके बाद में भी किया जा सकता है। हमलोग यदि एक डायरी में प्रतिदिन इस प्रकार ध्यान के समय के मन का विश्लेषण लिखकर रखें तो एक महीने के बाद स्वयं ही समझ सकेंगे कि सचेतन और अवचेतन मन के बीच किस प्रकार सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है।

इस तरह अतीत आपके मन में कभी आपको लेकर और कभी अन्य विषयों को लेकर उपस्थित हो जाता है। और कुछ होता है? मन को फिर लक्ष्य कीजिए। ध्यान में रामबाबू की बात हठात् मन में आने के साथ ही साथ चिन्तन का स्रोत—रामबाबू ने मेरे साथ अभद्र बातें की हैं·····ठाकुर ने कहा है, भक्त होगे तो बेवकूफ क्यों होगे?······ठाकुर का उपदेश कितना प्रैक्टिकल, व्यावहारिक है······गृहस्थ होकर लाइफ इनस्योरेंस कम्पनी में रुपया जमा करना उचित है······दस हजार रुपयों का फिक्स्ड डिपोजिट आगामी नवम्बर महीने में मैच्योर करेगा···इसी के साथ फ्लैट खरीदने के लिए लिए गये ऋण के रुपये लौटा दिए जायेंगे···सॉल्ट लेक (कलकत्ता का एक स्थान) में फ्लैट खरीदना ही अच्छा होगा······लड़की का विवाह हो जाने पर दक्षिणवाला घर निश्चय ही खाली हो जायगा······। यहाँ तक चिन्तन हो आने पर आप सचेतन हुए कि मन काफी दूर चला गया है।

इस प्रकार मन में जिन सारे अन्य चिंतनों का स्रोत चले उन सबको दो हिस्सों में बाँट लें—अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना। पहले कोई स्मृति जगती है तभी कल्पना शुरु होती है। मन के सामान्य और शान्त होने पर स्मृति की प्रधान भूमिका होती है, और तब कल्पना प्रायः बन्द हो ही जाती है। ध्यान में आपका मन शान्त नहीं होता है इसी स्मृति और कल्पना के कारण। ध्यान के लिए आवश्यक है कि हम अतीत और भविष्य को समाप्त कर वर्तमान में स्थित हों।

मन के शान्त नहीं होने पर दुःखी मत होइए। अच्छी तरह इसे देखिए। यह जानने का प्रयास कीजिए कि मन शांत क्यों नहीं हो रहा है? अवचेतन मन की मूलवृत्ति को पकड़कर हमलोग अपने मन के संस्कार को भी पकड़ सकेंगे। जो वृत्तियाँ हमलोगों को लक्ष्य-भ्रष्ट करना चाहती हैं, वे हैं काम, क्रोध, लोभ, मोह मद और मात्सर्य। डायरी देखने पर हम समझ पायेंगे कि इन सब में कौन-कौन-सी वृत्ति अधिक शक्तिशाली है। ये सब वृत्तियाँ दमन (सप्रेशन) के द्वारा दुर्बल और उन्नयन (सब्लिमेशन) के द्वारा समाप्त होती हैं। क्रोध का दमन करने से कुछ समय के लिए वह दब तो निश्चय ही जाता है किन्तु नष्ट नहीं होता। इन सब को नष्ट करने के लिए आवश्यक है उनका उन्नयन (सब्लिमेशन)। जप-ध्यान-प्रार्थना इसी उन्नयन के लिए आवश्यक हैं। और एक उपाय है, क्रोध को निर्लिप्त-भाव से देखना।

मन के विश्लेषण के समय जो अहं-चेतना, मैं-बोध (I-awareness; I ness) को पकड़ पाते हैं, उनके लिए ये कार्य सहज हो जाते हैं। साधारणतः मनुष्य का मैं-पन (अहं-चेतता) जुड़ा रहता है उसके शरीर को लेकर। शरीर को ही वह 'मैं' कहकर अनुभव करता है। ध्यान के समय क्या होता है? उसका 'मैं'—बोध उस समय शरीर से मन में उठ आता है। ध्यान जितना गंभीर होता है, शरीर-बोध उतना ही कम हो जाता है और मन ही उसके निकट प्रधान हो उठता है। संभवतः वह लक्ष्य करता है कि साधारण अवस्था में जो एक आसन पर ४०-४५ मिनट से अधिक नहीं बैठ पाता है, ध्यान के समय वह अनायास एक घंटा बैठ जाता है। शरीर-बोध का कम होना ही इसका मूल कारण है। अर्थात् ध्यान के समय मैं-बोध मन के स्तर पर होता है। अब और एक विषय का लक्ष्य कीजिए। ध्यान के समय जब तक मन शान्त नहीं होता है तब तक अनेक प्रकार के चिन्तन मन में चित्र की भाँति उभरते जाते हैं। अच्छी तरह लक्ष्य कीजिये, इस समय मन का कोई अंश जैसे क्रमागत रूप से विभिन्न चिन्तनों के आकार में परिवर्तित होता चलता है, और मन का एक अंश स्थिर रहकर इन चिन्तनों का अनुभव करता जाता है। मन

का यह स्थिर-अंश ही 'मैं'-बोध या शरीर और मन से अलग है। इसी 'मैं'-बोध को जब हम पकड़ पाते हैं तब मन स्वयं ही स्थिर होना या जमना शुरू कर देता है। इसके ऊपर ध्यान करने पर और भी गहराई में जाया जाता है—मन वहाँ शांत हो जाता है, केवल 'मैं अपने को जानता हूँ, यही वृत्ति जगी रहती है। यह 'मैं' भी यद्यपि प्रकृत आत्मा नहीं है तब भी इसे पकड़े रहने पर आत्मा का थोड़ा आभास मिल जाता है। इसके ऊपर ध्यान करने अथवा इसका और भी विश्लेषण (analysis) करने पर गंभीरतर चेतन सत्ता में जाया जाता है। षड् रिपुओं में से किसी भी एक के आक्रमण के समय इसी मैं-बोध में चले जाने से (इस मैं-बोध में स्थित होकर रिपु की भावगत दिशा को लक्ष्य करने पर) रिपु पर विजय सहज में हो जाती है।

चेतन (conscious), अवचेतन (subconscious) और अतिचेतन (super conscious)—मन के ये ही तीन स्तर होते हैं। जाग्रत अवस्था में चेतन अंश अधिक सक्रिय रहता है और स्वप्न अवस्था में अवचेतन अंश। ध्यान के समय मनुष्य पहले चेतन अंश का अतिक्रमण कर अवचेतन में जाता है और तत्पश्चात् वहाँ से अतिचेतन में उठ आता है। अतिचेतन के सम्बन्ध में थोड़ी जानकारी होने पर जाना जाता है कि यही मूल सत्ता है एवं चेतन तथा अवचेतन दोनों अंश असंख्य वृत्तियों की समष्टि हैं। और यह भी जाना जाता है कि इन्द्रियों की अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, बल्कि 'मैं-बोध' ही अवचेतन-चेतन अंशों के द्वारा प्रकाशित होता है एवं इन्द्रिय समूहों को चलाता है। इसी 'मैं-बोध' को सारे दिन भर में जितना अधिक पकड़े रख सकेंगे, अर्थात् चेतना-केन्द्र के रूप में उसे अलग कर लेंगे, मन उतना अधिक अपने आयत्त में आयेगा। चेतना-केन्द्र के रूप में 'मैं-बोध' को पकड़ने में असुविधा होने पर इसके बदले अपने इष्ट के रूप को भी (form of the chosen deity) लिया जाता है, अर्थात् अनेक कार्यों के बीच बार-बार इष्ट-चिन्तन करते रहने से भी सुविधा होती है।

□

भारतवर्ष की औपनिषदिक संस्कृति

—त्रिपुरारि चक्रवर्त्ती

[इस गंभीर निबंध के रचयिता स्वर्गीय त्रिपुरारि चक्रवर्ती इतिहास के विश्रुत विद्वान तथा महाभारत के अप्रतिम प्रवक्ता के रूप में देश भर में विख्यात थे। श्रीरामकृष्ण विद्यार्थी आश्रम (बेलघरिया) में प्रदत्त उनका यह भाषण "उद्बोधन" १३७१ की माघ-संख्या में प्रकाशित हुआ था। सार-संक्षेप हिन्दी में प्रस्तुत कर रहे हैं डा० विमलेश्वर दे।—सं०]

औपनिषदिक ब्रह्म-विद्या तथा उपनिषदों को भारतीय संस्कृति का चरम विकास माना गया है। उपनिषद् भारतवर्ष की अमूल्य निधि हैं। प्रायः कहा जाता है १०८ उपनिषदों में से मात्र दस उपनिषदें ही प्रामाणिक हैं। किन-किन ऋषियों ने इनकी रचना की तथा कब इनकी रचना हुई यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। विद्वानों का अनुमान है कि आठवीं सदी ई० पू० से तीसरी सदी ई०पू० के मध्य उपनिषदें लिखी गयीं। इन उपनिषदों में सम्पूर्ण विचार-धाराओं को दो स्तरों पर विभाजित किया जा सकता है। प्रथम तो ब्रह्म-विद्या-विवेचन, जो इसका तात्विक पहलू है। दूसरा है--साधना संबंधी विवेचन। दोनों ही पहलुओं पर गंभीर विचार—मंथन हुआ है। हम ब्रह्म-विद्या एवं तत्संबंधी अवधारणाओं पर पहले दृष्टिपात करेंगे।

एक दिन महर्षि भृगु ने अपने पिता वरुण से प्रश्न किया- -ब्रह्म क्या है ? उसकी संज्ञा क्या है ? वरुण ने जो उत्तर दिया यह तैत्तिरीय उपनिषद् में प्रश्नोत्तर के रूप में प्राप्त है। वरुण ने भृगु से कहा--

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति। तत् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।"

अर्थात् "जिससे इस विश्व की उत्पत्ति होती है, जिस का अवलम्बन करके विश्व के भूत—वर्ग जीवित हैं, जिसमें विश्व के सारे भूत-वर्ग विलीन हो जाते हैं—वही ब्रह्म है। ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।"

तब भृगु ने पूछा—पिता जी, ब्रह्म का ज्ञान कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? वरुण का उत्तर था—तपस्या करो। कुछ समय तक तपस्या करने के बाद उन्होंने कहा—"अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्"—अन्न ही ब्रह्म है। तात्पर्य यह कि यह भौतिक जगत ही ब्रह्म है। यही सत्य है। वरुण ने कहा—नहीं ! फिर से तपस्या करो। भृगु ने पुनः बहुत तपस्या की। पिता जी के पास जाकर उन्होंने कहा—"प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्"—प्राण ही ब्रह्म है। वरुण ने कहा—अभी भी तुम नहीं प्राप्त कर सके। पुनः वापस जाकर तपस्या करो। लम्बी तपस्या के उपरान्त भृगु ने लौट कर अपने पिता जी से अबकी बार कहा—विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्"—विज्ञान ही ब्रह्म है। पिता ने कहा—अभी भी उत्तर सही नहीं है। पुनः तपस्या करके लौटे भृगु ने कहा—मुझे ज्ञान प्राप्त हुआ। आनन्द ही ब्रह्म है।

सम्प्रति, पाश्चात्य देशों में विज्ञान पर बहुत काम हुए हैं तथा हो रहे हैं। वैज्ञानिक खोजों पर अरबों रुपये खर्च किये जा रहे हैं। दूसरी तरफ, पृथ्वी पर के अनेक देशों के लिये अभी भी अन्न ही ब्रह्म है। अन्न की तपस्या में ही वे अटके हैं। यदि वे अन्न-समस्या का अतिक्रमण नहीं करते हैं तो सर्वत्र हिंसा, मार-काट तथा ईर्ष्या—द्वेष का वातावरण रहेगा ही। अतः आनंदमय वातावरण का निर्माण होना अत्यावश्यक है। तैत्तिरीयोपनिषद् का यह "आनन्द-संवाद" अत्यंत रोचक तथा ज्ञातव्य विषय है। कहा जाता है कि जब विश्वकवि टैगोर रोग ग्रस्त हो मृत्यु—शय्या पर पड़े थे तो उन्होंने इसी संवाद का ध्यान किया था तथा उन्हें इससे बड़ी शांति तथा प्रेरणा मिली—"ब्रह्म ही आनन्द है, ब्रह्म ही सत्य है, ब्रह्म ही रस है'—"रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति।"

उपनिषदों में वर्णित ये बातें उपलब्धि की बातें हैं, अनुभूति की बातें हैं, तर्क की नहीं। उपनिषद् विचार-शास्त्र नहीं हैं, सत्य दृष्टि हैं। वही सत्य तथा वही सत्य—दृष्टि उपनिषदों के विभिन्न मंत्रों में व्यंजित हुई हैं। हमलोग आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं, पर कहाँ मिलता है आनन्द ? कहाँ मिलता है सत्य ? चतुर्दिक अंधकार ही अंधकार नजर आता है। इसी बात को बृहदारण्यक उपनिषद् के ऋषि ने भी कहा है—"मैं आलोक चाहता हूँ। मैं सत्य की उपलब्धि चाहता हूँ। मैं अमृत-तत्व को खोज रहा हूँ। बार-बार मृत्यु आकर मुझे सताती है। मैं मृत्यु से भयभीत हूँ। जीवन के अमृततत्व का स्वाद मुझे मिलता ही नहीं है।" और यह आर्त्त हो प्रार्थना करता है—

मृत्योर्माऽमृतं गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
असतो मा सद्गमय।

यही बात परवर्त्ती पुराणों, महाभारत एवं साहित्य-ग्रंथों में अनेकशः कही गयी है। इस स्थल पर महाभारत का प्रसंग उल्लेख्य है।

कुरुक्षेत्र के युद्ध के मैदान में शरशय्या पर लेटे हुए भीष्म पितामह स्तवन कर रहे हैं। उस समय भी वे आत्मस्थ हैं तथा स्तवन से प्रेरणा प्राप्त करने की चेष्टा में हैं। सामने व्याप्त गहन अंधकार को पूर्णतः अस्वीकार करते हुए उपनिषद् के मंत्र का उच्चारण करते हैं—

महतस्तमसः पारे पुरुषं ज्वलनद्युतिम्।
यत्ज्ञात्वा मृत्युमत्येति तस्मै ज्ञेयात्मने नमः॥

"इस गहन अंधकार के उस पार मैं ज्योतिर्मय पुरुष को देखता हूँ जो ज्ञेय स्वरूप है।" इसी प्रकार,

श्वेताश्वतरोपनिषद् में मनुष्यों को पुकार कर ऋषि कहते हैं- तुम डरते क्यों हो ? मैंने उन्हें देखा है—

"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्य वर्णं तमसःपरस्तात् ।
तमेव विदिता इति मृत्युमेतिनान्यः पंथाः विद्यते अयनाय ॥

यही सत्य, आनन्द अथवा ब्रह्म की बात विभिन्न रूपों में उपनिषदों में विस्तृत रूप से कही गयी है । वृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य—मैत्रेयी-संवाद भी इसी से संबंधित है । ऋषि याज्ञवल्क्य प्रव्रज्या ग्रहण कर रहे हैं । उनकी दोनों पत्नियाँ-मैत्रेयी तथा कात्यायिनी आयीं । याज्ञवल्क्य ने उन दोनों से कहा—तुमलोग मेरी सब सम्पत्ति का बँटवारा कर लो । ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी ने कहा—स्वामिन् ! जो आप देना चाह रहे हैं, उससे मुझे क्या लाभ होगा ? याज्ञवल्क्य ने कहा—वित्तशाली मनुष्य जिस प्रकार जीवन बिताते हैं, तुम भी बिताओ । मैत्रेयी बोली—अच्छा । तो क्या इस धन-सम्पत्ति से मैं अमृत-तत्व की प्राप्ति कर सकूँगी ? याज्ञवल्क्य ने कहा—यह नहीं होगा । तब मैत्रेयी का उत्तर हुआ—"येनाऽहं नामृता स्यां किम् अहम् तेन कुर्यामैं" अर्थात्, जिस विषय-सम्पत्ति से जीवन में अमृत तत्व की प्राप्ति नहीं हो, अखंड आनन्द का स्वाद नहीं मिले, उससे क्या होगा ? यह सम्पत्ति मुझे नहीं चाहिये ।"

उपनिषद् के इस प्रसंग से हमें वास्तविक आनन्द की एक झलक मिलती है, आनन्द क्या है, इसका ज्ञान प्राप्त होता है । ठीक यही बात नचिकेता—यमराज-संवाद के माध्यम से कठोपनिषद् में भी व्यक्त हुई है । यमराज के दरवाजे पर ब्रह्मचारी बालक नचिकेता पहुँचे हैं । यम नचिकेता से कहते हैं—"यह मत पूछो । तुम शताधिक वर्ष जीनें वाले पुत्र-पौत्र माँग लो, अपनी दीर्घ आयु प्राप्त कर लो, और भी जो भी पृथ्वी की उत्तमोत्तम चीजें हैं, मांग लो पर ब्रह्म-ज्ञान की बात मत पूछो । कहो, तुम्हें सम्राट बना दूँ, पृथ्वी करतलगत कर दूँ ?" मगर इन भौतिक प्रलोभनों को ठुकराते हुए नचिकेता ने कहा—"धर्मराज, ये सम्पत्तियाँ कितने दिन रहती हैं ? आप द्वारा प्रदत्त सारी चीजें तो कल ही नाश हो सकती हैं । आप जो देना चाहते हैं, वह भी कल नहीं रहेगा, क्योंकि इन्द्रियों की भोग करने की क्षमता काल से नहीं रह जायेगी । महाराज, रथ, अश्व, दास-दासी एवं अप्सरा किन्नरी—सब आपके प्रिय हैं, आप ही इन्हें रखिये । वित्त से मनुष्य कभी परमानन्द प्राप्त नहीं कर सकता — -"न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः" । यही है सर्वोत्तम बात । मैं आनन्द की खोज में आया हूँ, अमृत-तत्व का आस्वादन करना चाहता हूँ । वित्त से मनुष्य को कदापि तृप्ति नहीं मिलती है ।" ये सारी बातें तात्विक दृष्टिकोण से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं ।

छांदोग्योपनिषद् में भूमा का संवाद है । यह एक प्रामाणिक उपनिषद् है तथा नारद-सनत्कुमार-संवाद इसी में वर्णित है । मुक्ति-प्राप्ति हेतु विकल एवं शोक-ग्रस्त चित्त लिये जब नारद जी सनत्कुमार के पास पहुँचे तो सनत्कुमार ने नारद से पूछा…"अच्छा, यह बताइये, आपने किन-किन ग्रंथों को पढ़ा है ? प्रत्युत्तर में नारद ने अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों का नाम बताया । बोले—सभी ग्रंथों को पढ़ चुका हूँ । "आपने सब कुछ पढ़ लिया है तथापि मुझे कुछ कहना ही पड़ेगा । मैं कहता हूँ—यह सत्य तो नहीं है ।"—बोले सनत्कुमार । नारद ने कहा—"मंत्र विदोऽस्मि भगवन् नाहमात्मा-विद् । सो अहं भगवः शोचामि ।"—आप मुझे उपदेश दें । "यह सुनकर महर्षि नारद को सनत्कुमार ने अनेक उपदेश दिये । तथा अंत में बोले—"भूमैव सुखम । नाल्पे सुखमस्ति ।" —भूमा की उपलब्धि से सुख मिलता है, जो खंडित तथा पर्यवच्छिन्न है, उससे नहीं । फिर प्रश्न हुआ—"जिसे भूमैव सुखम कहा गया है, जिसे ब्रह्म कहा गया है, वह कहाँ प्रतिष्ठित है ? उत्तर हुआ—अपनी महिमा में—स्वे महिम्नि ।" उसी महिमा से उसकी उपलब्धि करनी होगी, तभी मनुष्य को सुख-शांति मिलेगी, अन्यथा नहीं ।

मुंडकोपनिषद् में भी यही आनन्द-तत्व वर्णित हुआ है । इस उपनिषद की अमोघवाणी है—"पृथ्वी पर जो कुछ भी देखता हूँ उसमें दुःखका कोई स्पर्श नहीं है । सबकुछ आनन्दमय है—"आनंदरूपं अमृतं यद् विभाति"; अमृत

के स्रोत से ही सभी कुछ आता है । अपनी अन्तिम बीमारी के समय रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने "आनन्दरूपम् अमृतं यद् विभाति"—मंत्र पर एक कविता लिखी थी—

जीवनेर दुखे-सुखे-तापे ऋषिर एकटि वाणी ।
चित्ते मोर दिने-दिने होयेछे उज्ज्वल ।
आनन्द अमृत रूपे बिखेरे प्रकाश ।
क्षुद्र यत विरुद्ध प्रमाणेर महानेरे सर्वकह ।
सहज पटुता । अंतहीन देशकाले परिव्याप्त,
सत्येर महिमा ये देखे अखंड रूपे,
ए जगते जन्म तार होयेछे सार्थक ।

अर्थात्, "जीवन के दुःख-सुख में ऋषियों की एक वाणी मेरे हृदय में है जो दिन-दिन आनन्द का प्रकाश बिखेर रही है। सत्य की महिमा को क्षुद्र मतों द्वारा और भी क्षुद्र करने की पटुता है । जो सत्य की महिमा को अनन्त देश-काल में व्याप्त अनेक रूपों में देखता है इस जगत में उसी का जन्म सार्थक है" ।

एक बात और है। ईशोपनिषद् में तत्व एवं साधना के दृष्टिकोण से यह बात कही गयी हैं। ऋषि कहते हैं—मैं सत्य को उपलब्ध करना चाहता हूँ पर सत्य का मुख तो हिरण्य से आवृत है—

"हिरण्मयेन पात्रेन सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्वं पूषन्नावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।।"

और सत्य का खोजी चित्त क्रन्दन करता है—"अपावृणु-अपावृणु"—हटाओ यह आच्छादन, यह आवरण । यही नहीं, बाद के श्लोकों में कहा गया है—

"पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्रजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि यो असावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ।"

"डिस्कवरी आफ इंडिया" में पं० जवाहर लाल नेहरू ने इस श्लोक का उदाहरण देते हुए कहा है—"भारतीय ऋषियों का कितना असाधारण आत्मविश्वास इन पंक्तियों में व्यक्त हुआ है। "—'What superb self-confidance of indian saints."

इस श्लोक में यह भी संकेतित है कि जगत की जो वाहिका शक्ति है' वह है कल्याण-शक्ति। उपनिषदों के ऋषियों के ध्यान में यह बात आयी थी कि इस कल्याण-शक्ति को जाग्रत करना ही मनुष्य की श्रेष्ठतम साधना या तपस्या है। इसीलिये ऋषियों ने स्थान-स्थान पर साधना की बातें भी कही हैं। ईशोपनिषद् का प्रथम मंत्र जो गाँधी, रवीन्द्रनाथ एवं विवेकानन्द को अतिशय प्रिय था, कितना कल्याणकारी है—

"ईशावास्य मिदंसर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम् ।।"

अर्थात्, त्याग द्वारा भोग करना है। किसी के धन पर लोभ नहीं करना है । आगे पुनः संदेश है—"यदि तुम दीर्घजीवी होना चाहते हो तो जन-कल्याण करो" । गीता का श्लोक "चिकीर्षु लोक संग्रहं" यही तो बताता है। ईशोपनिषद् का दूसरा श्लोक हैं—

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविच्छतं समाः"

अर्थात् सौ वर्ष जीना है तथा कर्म करते हुए सौ वर्ष जीना है। कर्म करते समय कर्म में कदापि लिप्त नहीं होना है—"न कर्म लिप्यते नरे।"

केनोपनिषद् का ऋषि प्रश्न पूछता है—इस धरातल पर मैं क्यों आया हूँ ? उत्तर देता है—"विकसित करने के लिये"—आविराविर्म एधिः । वेद तथा उपनिषद् प्रार्थना करते हैं—"हे आविः", हे प्रकाशस्वरूप, तुम मेरे भीतर प्रकाशित होओ। तुम्हारा प्रकाश मेरे भीतर सार्थक हो उठे। केनोपनिषद् का ऋषि कहता है—

"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः"—इस मर्त्यधाम में, धूलसामाकीर्ण धरती में, यदि मानव सत्य से अवगत हो जाता है तो उसका जीवन सार्थक है। यदि सत्य को उपलब्ध नहीं कर सका तो—"महती विनष्टिः" । इसी से ऋषि आगे कहता है कि मानव के लिए सबसे बड़ा नाश देह-नाश नहीं, मृत्यु नहीं, बल्कि आत्मा का अप्रकाशित रह जाना है। यदि हम औपनिषदिक विचार-धारा का पर्यालोचन करें तो पायेंगे कि इसके पन्ने-पन्ने में सत्य की प्रतिष्ठा, अभय-वाणी एवं जन-कल्याण की ही बातों का उल्लेख है।

और भी एक बात है। ऋषि विश्व के संबंध में इसे बार-बार दुहराता है कि हम जिस विश्व में वास करते-

हैं वह विभिन्नता से खंडित नहीं है । कठोपनिषद् में नचिकेता से यमराज कहते हैं—

"मनसैवेदमाप्तव्यम् नेह नानास्ति किंचन ।
मृत्योः स मृत्युम् गच्छति य इह नानेव पश्यति ।"

—अर्थात्, जो मनुष्य जीवन भर पृथ्वी के विभिन्न चक्रों के साथ घूमता रहता है वह बार-बार मृत्यु के दरवाजे पर उपनीत होता है । उसका जीवन निष्फल हो जाता है । अतः एकत्व ही सत्य है, द्वित्व नाम का कुछ भी नहीं है । विज्ञान भी आज इसी बिन्दु तक पहुँच कर इसे प्रमाणित कर रहा है । ईशोपनिषद् का ऋषि कहता है—"हे मनुष्य, तुम शोकग्रस्त होते हो मृत्यु से, विरह से, तुम मोहित हो जाते हो पृथ्वी से, परन्तु "तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः" "एकत्व (अद्वैत) को अनुभव नहीं कर पाने की वजह से ही तुम मोहित एवं शोकग्रस्त होते हो ।" यदि हम एकत्व को मनुष्य उपलब्ध कर ले तब शोक कहाँ तथा मोह कहाँ ?

उपनिषदों की वाणी वस्तुतः अभय की वाणी है, सत्य की वाणी है, ज्ञान की वाणी है तथा जो कुछ हमने अनुभव किया है उसी का प्रकाशित स्वरूप है । उस अनंत अखंड ब्रह्म में ही सर्वस्व है । इसी से यह सत्य की, शान्ति की, अनंत की, शिव की तथा अद्वैत की वाणी है ।

□

नारद-भक्ति-सूत्र

—श्रीमत स्वामी वेदान्तानन्द
सचिव, रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना

यत्प्राप्य न किञ्चिद् वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति ॥५॥

यत् (जिसे) प्राप्य (पाने पर) किञ्चित् (कुछ भी) न वाञ्छति (इच्छा नहीं करते) न शोचति (शोक नहीं करते) न द्वेष्टि (द्वेष नहीं करते) न रमते (अनुरक्त नहीं होते) न उत्साही भवति (किसी विषय में उत्साह नहीं प्रकट करते) ॥५॥

जिस भक्ति को प्राप्त करने पर भक्त अन्य किसी वस्तु को पाने की इच्छा नहीं करते, किसी वस्तु के नाश होने पर शोक नहीं करते, किसी से भी द्वेष नहीं करते, किसी वस्तु के पाने पर अह्लादित नहीं होते या किसी वस्तु को पाने के लिए उत्साह प्रकट नहीं करते ॥ ५

जब तक विवेक-वैराग्य नहीं आता है तथा विषय-वासना, राग-द्वेष बने रहते हैं, तब तक यर्थाथ साधना का आरम्भ नहीं होता । भक्ति-लाभ के लिए साधकों को इन सब का त्याग करना होगा ।

सिद्धावस्था में वासना का पूर्णतया नाश हो जाता है । तब मुक्ति की कामना भी नहीं रहती । भक्त को अभाव-बोध नहीं रहता, इसलिए वे और क्या चाहेंगे ? किसके लिए शोक करेंगे ? दुःख-बोध भी नहीं है, अतः किसका त्याग करेंगे ? भक्त को रहती है केवल भक्ति की कामना, दास्य-योग की प्रार्थना। 'कच्चा मैं' के रहने पर ही भोग की वासना रहती है । भक्त का होता है 'पक्का मैं' । भक्त चाहते हैं केवल ईश्वर की सेवा में, उनके नाम के गुण-गान में मग्न रहना ।

ईश्वर को प्राप्त करने पर "वे तुच्छ फल नहीं देते — वे अमृत-फल देते हैं । वह फल है—ज्ञान, प्रेम, विवेक और वैराग्य ।" उनकी प्राप्ति के फलस्वरूप ही अखंड शान्ति की प्राप्ति होती है । ईश्वर के निकट जितना आगे बढ़ोगे उतनी ही शीतलता का बोध होगा । स्नान करने पर और भी शान्ति मिलेगी ।"

"भक्त केवल उन्हें (ईश्वर को) ही जानते हैं, उन्हें ही चाहते हैं, हनुमान ने कहा था, 'मैं तिथि-नक्षत्र नहीं जानता, एक मात्र राम-चिन्तन करता हूँ' ।"

भक्त जानते हैं कि सब कुछ उनके प्रियतम की इच्छा से ही होता-जाता है । इसी से वे किसी वस्तु के लिए, यहाँ तक कि मनुष्य का परम प्रिय जो शरीर है उसके नाश होने पर भी, दुःख नहीं करते । "देह का सुख

दुःख तो है ही। जिसे ईश्वर-लाभ हुआ है वह मन-प्राण, देह-आत्मा सब कुछ उन्हें समर्पण कर देता है। पम्पा सरोवर में स्नान के समय राम-लक्ष्मण ने सरोवर के निकट मिट्टी में धनुष को गाड़ कर रखा। स्नान के बाद लक्ष्मण ने धनुष उठा कर देखा कि धनुष रक्ताक्त हो गया है। राम ने देखकर कहा—भाई, देख-देख, लगता है किसी जीव की हिंसा हो गयी। लक्ष्मण ने मिट्टी खोदकर देखा, एक बड़ा ढाबुस बेंग है। मरणासन्न अवस्था। राम करुण स्वर में कहने लगे 'तुमने आवाज क्यों नहीं की ? मैं तुम्हें बचाने की चेष्टा करता। जब साँप पकड़ता है तब तो खूब चीत्कार करते हो !' मेढ़क ने कहा, 'राम ! जब साँप पकड़ता है, तब मैं यही कहकर चीत्कार करता हूँ, 'राम, रक्षा करो; राम रक्षा करो'—अभी देखा कि राम ही मुझे मार रहे हैं, इसी से चुप हूँ'।"

"ईश्वर-लाभ होने से·········देहात्म-बुद्धि चली जाती है। देह के सुख-दुःख से उसे सुख-दुःख का बोध नहीं होता, वह व्यक्ति देह का सुख नहीं चाहता। जीवन्मुक्त हो जाता है।"

भक्त को शोक नहीं होने से भक्त हृदयहीन पाषाण नहीं हो जायेंगे। उनकी सहानुभूति रहेगी, किन्तु अहं-बोध नहीं रहेगा। दया रहेगी—माया नहीं रहेगी। प्रह्लाद भगवान के समीप शोक प्रकट करते हैं, ईश्वर-विमुख, इन्द्रिय-सुखों में मुग्ध बद्धजीवों के लिए—उनकी अपने लिए कोई भावना नहीं है।

नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्यास्तद्वीर्य गायन महामृत-मग्नचित्तः।

शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थमायासुखाय भर-मुद्वहतो विमूढ़ान्॥ भा० ७-९-४३

कामना नहीं रहने पर द्वेष भी अपने-आप चला जाता है। कामना की पूर्ति के मार्ग में किसी अवरोध के उपस्थित होने पर ही तो द्वेष की उत्पत्ति होती है।

भक्त किस व्यक्ति के और किस वस्तु के प्रति द्वेष-भाव का पोषण करेंगे। प्रेममय को ही वे संसार में अनेक रूपों में प्रत्यक्ष देखते हैं—संसार की समस्त सृष्टियाँ, सारे व्यापार ईश्वर के लीलाविलास के रूप में भक्त को नित्य अनुभव होते हैं। सारे अशुभों के बीच भी वे मंगलमय के मंगलहस्त की प्राप्ति का स्पर्श अनुभव करते हैं।

निश्चय ही लोक-व्यवहार में अन्याय के प्रतिकार के लिए वे क्रोध प्रकट करते हैं, 'फुफकार करते हैं—किन्तु इससे उनके हृदय का साम्य नष्ट नहीं होता है।

ऐहिक कामना की पूर्ति से हर्ष का उद्रेक होता है—किन्तु भक्त को अविद्या जनित वासना तो रहती नहीं। "पक्की भक्ति, रागानुगा भक्ति, प्रेमा भक्ति के आने पर स्त्री-पुत्र, आत्मीय-कुटुम्ब के ऊपर माया का वह आकर्षण नहीं रहता। दया रहती है। संसार विदेश, मात्र एक कर्मभूमि जैसा प्रतीत होता है। जैसे गाँव में घर है किन्तु कलकत्ता कर्मभूमि है; कलकत्ते में निवास कर रहना होता है कर्म करने के लिए। ईश्वर में प्रीति होने पर संसार के प्रति आसक्ति, विषय-बुद्धि पूर्णतया चली जाती है।"

भक्त किसी कार्य में उत्साही नहीं होते। वासना-पूर्ति के लिए कर्म में उद्यम की आवश्यकता होती है। वासनानाश के फलस्वरूप भक्त में त्याग की या ग्रहण करने की कोई चेष्टा नहीं रहती। भक्त होते हैं सर्वारम्भ परित्यागी, भक्त होते हैं गुणातीत

भक्त का 'मैं'—'बालक का मैं' होता है। उनकी कर्म-चेष्टा में अहंज्ञान का, किसी गुण के बन्धन का लेश मात्र नहीं रहता।

यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति ॥ ६ ॥

यत् (जिसे) ज्ञात्वा (जानकर) [भक्त] मत्तः भवति (उन्मत्त होते हैं), स्तब्धः भवति (स्पन्दनहीन जड़वत् होते हैं) आत्मारामः भवति (आत्माराम होते हैं)॥ ६

जिस प्रेम की प्राप्ति कर भक्त उन्मत्त होते हैं, जड़वत् होते हैं और अपने आनन्द में विभोर होकर रहते हैं ॥६

इस सूत्र में 'ज्ञात्वा' शब्द का व्यवहार होने पर भी उस शब्द के द्वारा इन्द्रिय-मन-बुद्धि द्वारा अनजानी

किसी वस्तु का जानना नहीं प्रतीत होता है। यहाँ जानने का अर्थ है पाना।

भक्त विधि निषेध के अतीत हो जाते हैं। अपनी इच्छा, बुद्धि, विचार सब कुछ इष्ट के चरणों में समर्पण कर वे तन्मय जो हो गये हैं। हिसाब कर कार्य करने का उन्हें और अवसर कहाँ! लोग क्या कहते हैं, क्या सोचते हैं, यह सब सोचना तो उनका और होता नहीं। फलतः अनेक समय लोक दृष्टि में उनका आचरण दुर्बोध्य अथवा कभी निन्दनीय हो जाता है।

"जो ईश्वर का सर्वदा दर्शन करता है, उनके साथ बात करता है, उसका स्वभाव कभी बालकवत्, कभी जड़वत् कभी उन्मादवत् और कभी पिशाचवत् होता है। पाँच वर्ष के बच्चे की भाँति स्वभाव होता है। लज्जा, घृणा, संकोच आदि कोई बन्धन नहीं—त्रिगुणातीत—किसी गुण का प्रभाव नहीं। जड़वत्—समाधिस्थ होकर बाह्य शून्य होता है, जड़ की तरह चुपचाप बैठा है। वह कर्म कर नहीं पाता है, कर्मत्याग हो जाता है। फिर कभी पागल की तरह व्यवहार करता है, कभी हँसता है, कभी रोता है। अभी बाबू की तरह सजा सँवरा है, फिर थोड़ी ही देर बाद नंगा। काँख के नीचे कपड़ा रखकर घूमता है, इसी से उन्मादवत्। फिर पवित्रता और अपवित्रता दोनों ही उसके लिए समान हैं।" ईश्वर दर्शन के बाद यही अवस्था होती है। जैसे चुम्बक के पहाड़ के निकट से जहाज के जाने पर जहाज का स्क्रू और काँटी अलग होकर खुल जाती है।"

"सच्चिदानन्द में जब तक मन लय नहीं होता तब तक उनको पुकारना और संसार के कार्य करना—दोनों ही रहते हैं। तदुपरान्त उनमें मन के लय होने पर अन्य किसी कार्य के करने की आवश्यकता नहीं रहती। जैसे मानो कोई कीर्तन गाता है—'निताई मेरा पागल हाथी' जब पहले गान शुरू करता है तब गान की कथा, सुर, ताल, मान, लय—सब ओर मन रखकर ठीक गाता है। इसके बाद जहाँ गान के भाव में मन थोड़ा लय होता है तब केवल कहता है—'पागल हाथी, पागल हाथी।' बाद में जब मन भाव में और डूब जाता है, तब केवल इस तरह कहता है—'हाथी हाथी। और जब मन भाव में और भी डूब जाता है तब हाथी कहते-कहते 'हा' कहते हुए आँ कर रहता है।"

"उन्हें देखने पर उनके बाहर का ऐश्वर्य, उनके संसार का ऐश्वर्य विस्मृत हो जाता है। हनुमान से किसी व्यक्ति ने जिज्ञासा की, 'आज कौन-सी तिथि है?' हनुमान ने कहा, 'दिन, तिथि यह सब कुछ नहीं जानता हूँ, मैं केवल राम का चिन्तन करता हूँ।' और कूटस्थ बुद्धि—हजार दुःख-कष्ट, आपदाएँ-विपदाएँ आयें—वह निर्विकार रहता है।"

"साधना करते-करते एक प्रेम का शरीर हो जाता है, उसकी प्रेम की आँखें, प्रेम के कान हो जाते हैं। उन आँखों से उन्हें देखता है, उन कानों से उनकी वाणी सुनता है। ········ ईश्वर के प्रति खूब प्रीति नहीं होने पर चारों ओर ईश्वरमय नहीं देखा जाता। तब फिर 'वे ही मैं हूँ' यही बोध होता है। मद्यप को अधिक नशा होने पर कहता है, 'मैं ही काली हूँ।' रात-दिन उनका चिन्तन करने पर उन्हें चारों ओर देखा जाता है। जैसे दीपक की शिखा की ओर काफी देर तक एकटक देखते रहने से कुछ देर बाद चारों ओर शिखा ही शिखा दिखाई पड़ती है।"

ज्ञान में जैसे अद्वैत बुद्धि होती है—ब्रह्म के साथ अपने अभेद का बोध होता है, प्रेम में भी इसी प्रकार अद्वैत बुद्धि आ जाती है। प्रेम की अतिशयता में भक्त इष्ट के साथ एक हो जाते हैं।

ऊपर के तीन सूत्रों में भक्ति-लाभ के जिन सारे लक्षणों का वर्णन किया गया है उनका परिपूर्ण प्रकाश श्रीरामकृष्ण देव के जीवन में देखा जाता है।

भक्ति-लाभ के जिन सारे लक्षणों की बात कही गयी है, उन सब के लिए किसी को भी चेष्टा नहीं करनी होती; साधना की परिसमाप्ति होने पर भक्ति-लाभ के फलस्वरूप वे स्वयं ही आ जाते हैं। (क्रमशः) ■

स्वामी विवेकानन्द और महर्षि दयानन्द

—डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा,
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
राजनीतिशास्त्र विभाग,
पटना विश्वविद्यालय, पटना,

विवेकानन्द (१८६३—१९०२) का जीवन चरित्र वैयक्तिक उपलब्धियों पर आधारित नेतृत्व का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। विवेकानन्द की आत्मा चिन्तनशील थी और वे गम्भीर आध्यात्मिक वेदना और आकांक्षाओं से पीड़ित रहा करते थे। किन्तु दयानन्द की भांति वे भी बाह्य जगत् में कुछ भावात्मक काम करना चाहते थे। दयानन्द के ग्रन्थों की भाषा सरल और स्पष्ट है। विवेकानन्द की भाषा अधिक अनुप्रेरित और ओजपूर्ण है। यह निर्विवाद सत्य है कि विवेकानन्द की वक्तृता ने युवकों की मानसिक रचना के निर्माण में शक्तिशाली प्रभाव का काम किया, विशेषकर बंगाल में, किन्तु सामान्यतः संपूर्ण भारत में।

दयानन्द की भांति विवेकानन्द भी संन्यासी थे और दोनों ने ही त्याग के द्वारा शक्ति प्राप्त की थी। यद्यपि दोनों ने सांसारिक यश और समृद्धि की इच्छा का परित्याग करने की शपथ ली थी, किन्तु दोनों ने सर्वोत्कृष्ट ख्याति उपलब्ध की। विवेकानन्द ने हिन्दू दर्शन का जो गत्यात्मक निर्वचन किया उसने उन्हें जगद्‌गुरु के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। पश्चिम में लोग उन्हें 'हिन्दू नेपोलियन' कहते थे। वे ऋषि थे और उनका दावा था कि मैंने निर्विकल्प समाधि की अवस्था में अतिचेतन (परब्रह्म) का साक्षात्कार कर लिया है। अपने गुरुभाइयों में वे इसलिए श्रेष्ठ माने गये कि उन्होंने इन्द्रियातीत सत्ता का दर्शन कर लिया था। किन्तु पश्चिम तथा पूर्व के शिक्षित वर्ग विशेषकर उनकी प्रचण्ड बौद्धिक शक्तियों पर मोहित थे। एक गेरुआधारी संन्यासी बर्क की शैली में अंग्रेजी में व्याख्यान दे सकता था, इस बात ने बौद्धिक वर्ग को विस्मित कर दिया। विवेकानन्द का उनके श्रोताओं पर दुर्दमनीय प्रभाव पड़ा, इसका अन्य कारण यह था कि दयानन्द की भांति उन्होंने भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि प्राचीन हिन्दू धर्म आधुनिक विज्ञान के अन्वेषणों से मेल खाता है। उन्हें आधुनिक दर्शन, विज्ञान और इतिहास का अच्छा ज्ञान था।

कभी-कभी बलिष्ठ शरीर नेता के लिए बहुत सहायक होता है; दयानन्द तथा विवेकानन्द दोनों ही इस बात के प्रमाण हैं। किन्तु दयानन्द ने जनता को इसलिए प्रभावित किया कि उन्होंने अपरिमित शारीरिक शक्ति अर्जित कर ली थी। इसके विपरीत, विवेकानन्द अपने श्रोताओं को अपने शरीर के लावण्य और आकर्षण के कारण सम्मोहित करने में सफल होते थे। उनका शरीर दयानन्द की भांति खिलाड़ियों जैसा कभी नहीं था। किन्तु उनके शरीर में एक आकर्षक माधुर्य था जिसका लोगों पर गहरा प्रभाव पड़ता था। इसलिए लोगों में यह धारणा फैल गयी थी कि योग की शक्तियों ने उनके शरीश को प्रदीप्त कर दिया है।

विवेकानन्द के नेतृत्व को प्रभावोत्पादक बनानेवाला एक अन्य तत्व यह था कि उन्होंने हिन्दुत्व का उस समय समर्थन किया जब पाश्चात्य साम्राज्यवाद और ईसाई धर्म सर्वोच्चता के शिखर पर पहुँच चुके थे। दयानन्द ने केवल वेदों को अपना आधार बनाया और पुराणों की आलोचना करके हिन्दू लोकमत को अपने विरुद्ध कर लिया। इसके विपरीत, विवेकानन्द ने सभी हिन्दू धर्मशास्त्रों के दावों का समर्थन किया और उनमें इतना साहस था कि उन्होंने वैज्ञानिक पश्चिम के फैशनपरस्त और आलोचनात्मक महानगरों की जनता के सामने उनकी श्रेष्ठता की घोषणा की। इस बात ने

विवेकानन्द को हिन्दुओं के धार्मिक जगत् का नेता बना दिया। यद्यपि अपने पश्चिम की यात्राओं के दौरान उन्होंने संन्यासी के बाह्य आचरण सम्बन्धी नियमों का सदैव कठोरता के साथ पालन नहीं किया, फिर भी जब वे लौटकर स्वदेश आये तो उनका एक महान् आचार्य के रूप में अभिनन्दन किया गया। इससे सिद्ध होता है कि यदि नेता किसी प्रशंसनीय कार्य में श्रेष्ठता का परिचय दे तो लोकमत अंशिक रूप में उसकी आचार सम्बन्धी शिथिलता को सहन कर लेता है।

दयानन्द ने हिन्दुओं की अनेक कुरीतियों का खण्डन किया। किन्तु विवेकानन्द कट्टर अर्थ में सुधारक नहीं थे। उन्होंने आलोचना पर नहीं अपितु रचना पर बल दिया। उनका दावा था कि वे उस समग्र हिन्दुत्व के प्रतिनिधि थे जो अपने ऐतिहासिक विकास की अनेक शताब्दियों में विकसित हो चुका था। इसलिए दयानन्द की भाँति उनके नेतृत्व को कभी चुनौती नही दी गयी। लोकमत ने उनके नेतृत्व के प्रति उतनी शत्रुता प्रकट नहीं की जितनी कि दयानन्द के प्रति की थी।

दयानन्द और विवेकानन्द दोनों ही हृदय से सन्त थे और उन्हें नेतृत्व से सम्बन्धित कोलाहल और हलचल पसन्द नहीं थी। वे अपने व्यक्तित्व को लोकमत की सनक, दुर्भाव और आदेशों के अनुसार नहीं ढालना चाहते थे। दयानन्द ने अपने विश्वासों के हेतु लोकमत का खुल कर विरोध किया। दयानन्द तथा विवेकानन्द दोनों का मन अपने आध्यात्मिक व्यक्तित्व को पूर्ण करने की कार्यविधि में ही अधिक लगता था। नेतृत्व का साज-सामान जुटाने में उनकी रुचि नहीं थी। फिर भी आर्य सामाज तथा रामकृष्ण मिशन ने उन दोनों के नेतृत्व के लिए संस्थात्मक आधार प्रदान किया। इस प्रकार दयानन्द तथा विवेकानन्द दोनों ने दिखा दिया कि एक व्यक्ति धार्मिक संदेशवाहक तथा सामाजिक सेवा, दोनों का काम साथ-साथ कर सकता है।

विवेकानन्द अभयम् तथा स्वतंत्रता के सन्देशवाहक थे। उनका बल इस बात पर था कि भय पर पूर्ण विजय प्राप्त की जाय। उन्होंने राजनीति में भाग नहीं लिया, फिर भी स्वतंत्रा के लिए उनके मन में उत्कट अभिलाषा थी। 'संन्यासी का गीत' नामक कविता में उन्होंने स्वतंत्रता की धारणा को ओजस्वी भाषा में प्रतिष्ठित और पवित्रीकृत किया है। विवेकानन्द स्वतंत्रता के सृजनात्मक पक्ष के प्रति अपनी इस उदात्त भक्ति के कारण तरुणों की स्थायी श्रद्धा के पात्र बन गये। आध्यात्मिक अद्वैतवादी होने के नाते विवेकानन्द अन्तर्राष्ट्रीय थे। किन्तु भारत माता के लिए भी उनके मन में गहरा अनुराग था। अपनी उदात्त देशभक्ति के कारण वे भारतीय जनता के स्नेह-भाजन बन गये।

विवेकानन्द की सफलता का मुख्य कारण यह था कि पश्चिम में वेदान्त दर्शन की जो चतुर्योग समाश्रित (ज्ञानयोग, भक्तियोग, राजयोग तथा कर्मयोग), सार्वजनीन, बुद्धिसंश्रित और प्रेरणाप्रद व्याख्या की वह आश्चर्य जनक थी। वे जेम्स, मैक्स मूलर, बॉल, डौयसन और रायस से मिले तथा आध्यात्मिक अद्वैतवाद की महत्ता पर विचार-विमर्श किया। वे इस बात में विशेष भाग्यशाली थे कि उन्हें पश्चिम में कुछ प्रतिभाशाली तथा निष्ठावान शिष्य मिल गये। उन्हें पश्चिम में भारत के पक्ष में अनुकूल लोकमत का निर्माण करने में सफलता मिली। दूसरी ओर उन्हें शिकागो के सम्मेलन में तथा अन्य स्थानों में जो सफलता उपलब्ध हुई उससे भारतीय लोकमत आन्दोलित हो गया।

■

प्रिय साधकों के नाम

(स्वामी तुरीयानन्दजी महाराज के आध्यात्मिक पत्र)

अनुवादक—ब्रह्मचारी प्रज्ञाचैतन्य
रामकृष्ण मठ, नागपुर ।

(१)

श्रीरामकृष्ण शरणम्

मठ
बेलुड़, हावड़ा

प्रिय हरिमोहन,

अभी-अभी तुम्हारा एक और पत्र मिला । तुम पहले से अच्छे हो, यह जानकर आनन्दित हुआ । खूब सावधानीपूर्वक रहना ।… अपने स्वास्थ्य का विशेष ध्यान रखना क्योंकि बार-बार रोग में शक्ति का क्षय न कर, उसी शक्ति को भगवच्चिन्तन में लगाने पर परम कल्याण होता है । बीच-बीच में पत्र लिखकर अपने मन के संदेह तथा विचारधारा से अवगत कराने पर उत्तर के द्वारा बहुत लाभ होगा । मैं तुम्हारे विषय में सोचता रहता हूँ और तुम्हारी कल्याण-कामना भी करता हूँ ।……

तुम अपने भाव में रहना तथा सभी का भला सोचना । किसी के भी साथ वृथा वाद-विवाद या कलह करने की जरूरत नहीं । गीतापाठ कर रहे हो सो बहुत ही अच्छी बात है । गीता समस्त शास्त्रों का सार है । गीता सुनकर ही अर्जुन संदेहमुक्त हुए थे और अन्य भी जो कोई गीता का सेवन करेगा, वह भी निश्चय ही सारे संदेहों से मुक्त होगा । तुम गीता का सेवन न छोड़ना । बाकी सारे समाचार ठीक हैं । तुम मेरा स्नेह व आशीष स्वीकार करना । इति ।

शुभाकांक्षी
तुरीयानन्द

(२)

श्रीहरिः शरणम्

गढ़मुक्तेश्वर
४-२-१९०८

प्रिय…… ,

कल तुम्हारा विस्तृत पत्र पाकर समाचारों से अवगत हुआ । पहले भी……से तुम्हारे बारे में थोड़ा बहुत मालूम हुआ था । प्रभु की कृपा से तुमलोग सकुशल काशीधाम में रहकर यथासाध्य साधन-भजन कर रहे हो यह जानकर मैं आनन्दित हुआ हूँ । तुम्हें श्रीमाँ* की कृपा प्राप्त हुई है, अतः भय कैसा ? अब आनन्दपूर्वक भगवान को आत्मसमर्पण कर निश्चिन्त हो जाओ । बंधन आदि बाहर नहीं, सबकुछ भीतर ही है । अपने मन का बंधन भ्रांतिवश बाहर प्रतीत होता है । पुण्यकर्मों के फल और भगवत्कृपा से मन जब निर्मल हो जाता है तो यह बात स्पष्ट रूप से समझ में आ जाती है । परन्तु समझ में आ जाने पर भी बंधनमुक्त होना इतना आसान नहीं है । गुरुकृपा और निष्ठापूर्वक प्रयास करने पर ही बंधन से मुक्ति होती है । जो भी हो, तुमलोग निःसंदेह भाग्यशाली हो । संसार की अनित्यता को समझकर तुमलोगों ने जो सर्वस्व त्याग दिया है, इसी से तुम्हारे सौभाग्य का परिचय मिल रहा है । तिस पर भी तुम्हें श्रीमाँ का आश्रय मिला है, अतः इसमें संदेह नहीं कि तुमलोग महा भाग्यवान् हो । तीर्थभ्रमण और निर्जन में रहकर साधना करने का तुम्हारा संकल्प अति उत्तम है । श्रीमाँ की अनुमति भी मिली है । स्वास्थ्य के प्रति ध्यान रखने का उनका उपदेश कभी न भूलना । प्रभु को हृदय में लेकर चाहे जहाँ जाओ, भय की कोई बात नहीं । सभी देश उन्हीं के हैं । क्या ऐसा भी कोई देश है, जहाँ

*भगवान् श्रीरामकृष्णदेव की लीला-सहधर्मिणी श्रीसारदा देवी

वे न हों ? अतः चिन्ता की कोई बात नहीं। बिना कष्ट उठाये अपनी इच्छानुसार तीर्थभ्रमण और निर्जनवास की अपनी आकांक्षा पूरी कर सकते हो। इसमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु कर्म में आबद्ध होने की जो बात तुमने लिखी है, वैसे भय का मेरी समझ में कोई कारण नहीं है।

कर्म तो करना ही होगा, अन्यथा चित्तशुद्धि कैसे होगी। कर्मक्षेत्र में ही तो अपनी परीक्षा होगी। मन में फल की कितनी आशा है और कितना निष्काम हुआ है, स्वार्थपरता कितनी रह गयी है और कितनी कम हुई है—यह सब जानने का एकमात्र उपाय कर्म है। जब हृदय में प्रेम का संचार होगा तो कर्म में कर्मबोध न रहेगा। कर्म तब पूजा हो जायगा। इसी को सच्ची भक्ति कहते हैं। शुरू में दोनों ही करना होगा—कर्म और साधन-भजन, पर हाँ लक्ष्य को स्थिर रखकर। बाद में ईश्वर की कृपा से ऐसा समय भी आयेगा जब साधन-भजन और कर्म में भेदबुद्धि का लोप हो जायगा। तब सबकुछ साधना हो जायँगे, कर्म और साधन-भजन में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होगा, क्योंकि प्रभु तो सभी में ओतप्रोत हैं। जो भी हो, उन्हें हृदय में रखकर जैसी दृढ़ इच्छा हो वैसे करना; क्योंकि मठ में रहकर निष्काम-कर्म करना अथवा तीर्थादि-निर्जन में रहकर साधन-भजन—इनमें कोई भी बुरा नहीं है, दोनों ही उत्तम हैं। अपने आपको दुर्बल न समझना। स्वयं दुर्बल होने पर भी, तुमने जिनकी शरण ली है, वे सर्वशक्तिमान हैं। अतः अपने-आपको उनका कहकर बलवान समझना। उनके अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं है—यह धारणा दृढ़ होने पर हृदय में महाबल का संचार होगा। प्रभु के पादपद्मों में तुमलोगों की भक्ति, अनुराग और श्रद्धा उत्तरोत्तर वर्धित हो, तुम उनमें बिल्कुल मग्न हो जाओ और अपना नरजन्म धारण सार्थक करो—यही मेरी प्रार्थना है। ज्यादा और क्या लिखूँ ? इति।

—तुरीयानन्द

(३)

श्री हरिः शरणम्

प्रिय…, गढ़मुक्तेश्वर

कल तुम्हारा पत्र पाकर समाचारों से अवगत हुआ।… तुम्हारी बात मैंने पहले स्वामी शिवानन्द से सुनी थी और यह जानकर अत्यंत आनंदित हुआ था कि तुमने संसार के सारे सम्बन्ध विच्छिन्न कर भगवान् की आराधना में जीवन बिताने का निश्चय किया है। भगवत्प्राप्ति के लिए व्याकुलता अतीव आवश्यक व उत्तम है, तो भी चित्तवृत्ति शान्त नहीं हुई इस कारण उतावले होना या निराशा को प्रश्रय देना उचित नहीं। उनकी राह देखते हुए भी अपने-आपको धन्य मानना चाहिए। वे संसार से निकाल लाकर अपना भजन करा रहे हैं, यह क्या उनकी कम दया है ? अब चित्तवृत्ति शान्त करना या न करना उनके हाथ में है; भजन करा रहे हैं, यही काफी है। प्रार्थना करो कि वे तुम्हें अपने भजन में लगाये रखें—चित्तशान्ति के लिये प्रार्थना क्यों करोगे ?

ठाकुर खानदानी किसान होने को कहा करते थे। खानदानी किसान बाढ़ या सूखे की परवाह किये बिना खेती किये जाता है। खेती के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं करता। इसी प्रकार प्रभु का भजन किये जाओ और अपने को कृतार्थ मानो। सुख-दुःख, शान्ति-अशान्ति सब उनके चरणों में डाल दो। वे जैसे भी रखें, स्वीकार करो। वे अपना भजन करायें, एकमात्र यही प्रार्थना करना सीखो, इससे अपने आप ही शान्ति आयेगी। शान्ति के लिये प्रार्थना करने की आवश्यकता न होगी। केवल भजन के लिये ही प्रार्थना करना। भगवान् क्या साग-भाजी हैं, जो पैसे देकर खरीद लोगे ? उनकी साधना का क्या कोई ओर-छोर है कि ऐसा-ऐसा करने पर वे मिल जायेंगे ? केवल उनकी बाट जोहते उनके द्वार पर पड़े रहो—यही कर पाना-ही पर्याप्त है। उनकी दया अपने आप होती है। नाक दबाने या किसी अन्य साधन के द्वारा कोई भी उन्हें नहीं पाता। जिस किसी को वे मिले हैं, अपनी दया से ही मिले हैं। यदि वे द्वार पर पड़ा रहने दें, तो इसी में उनकी असीम कृपा मानना। साधन-भजन और है क्या ? बस मन-मुख एक कर उन्हें पुकारते जाना। भीतर एक भाव और बाहर दूसरा भाव कदापि न रखना। आवश्यकता होने पर अन्य साधन वे स्वयं ही करा लेंगे।

ब्रह्मचारियों को मेरी शुभकामनाएँ कहना।… मैं शीतकाल यहीं बिताऊँगा। बाद में प्रभु की जैसी इच्छा। तुम मेरी शुभेच्छा ग्रहण करना। इति।

—तुरीयानन्द

अखिल भारत विवेकानन्द युवा महामण्डल का १७वाँ वार्षिक शिविर

अखिल भारत विवेकानन्द युवा महामण्डल का १७ वाँ वार्षिक शिविर दि० २५ से ३० दिसम्बर १९८३ तक कलकत्ता के पास, रामकृष्ण मिशन सारदापीठ (शिल्प-मन्दिर छात्रावास) में आयोजित किया गया, जिसमें देश के लगभग ७०० नवयुवकों ने चरित्र-निर्माण, राष्ट्रभक्ति एवं त्याग और सेवा के आदर्शों को ग्रहण करने हेतु प्रवेश लिया। दिव्यायन,राँची, से भी ५१ युवकों ने इसमें नामांकन करवाया। दिव्यायन से ५१ युवकों की टोली जिसमें अधिकतर दिव्यायन के भूतपूर्व प्रशिक्षणार्थी थे, दि० २४ दिसम्बर ८३ को राँची से हटिया-हावड़ा एक्सप्रेस रेल द्वारा रवाना हुई। दिनांक २५ दिसम्बर ८३ को शिविर स्थल पर पहुँचकर सभी प्रशिक्षणार्थी बेलुड़ मठ गये और श्रीरामकृष्ण देव का भव्य मन्दिर, माँ सारदा देवी का मन्दिर, स्वामी विवेकानन्द का मन्दिर, स्वामी ब्रह्मानन्दजी का मन्दिर, स्वामी विवेकानन्द का कमरा इत्यादि स्थान उन्होंने देखे। रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के अध्यक्ष श्रीमत स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज के दर्शन का प्रशिक्षणार्थियों को विशेष सौभाग्य प्राप्त हुआ। परम पूजनीय अध्यक्ष महाराज ने सभी प्रशिक्षणार्थियों को रामकृष्ण मिशन आश्रम, राँची द्वारा हाल में प्रकाशित पुस्तक "नवयुवकों को आह्वान—स्वामी विवेकानन्द" प्रदान की तथा गाँवों में सेवाकार्यों को और भी अधिक बढ़ाने के लिए प्रशिक्षणार्थियों को प्रोत्साहित किया।

दिनांक २५ से ३० दिसम्बर तक शिविर में सभी प्रशिक्षणार्थियों ने अनुशासन में रहते हुए शिविर की पूरी दिनचर्या का पालन किया। शिविर में रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन के कई संन्यासियों ने प्रवचन दिए। प्रशिक्षणार्थियों से पूजनीय स्वामी स्मरणानन्दजी महाराज ने विशेष रूप से चर्चा की। स्वामी मुख्यानन्दजी महाराज तथा स्वामी सत्यरूपानन्दजी महाराज के हिन्दी प्रवचनों ने प्रशिक्षणार्थियों को विशेष रूप से प्रभावित किया। पूजनीय स्वामी आत्मस्थानन्दजी महाराज के प्रवचन ने भी प्रशिक्षणार्थियों को विशेष रूप से उत्साहित किया। शिविर के मुख्य संचालक श्री नवनीहरण मुखोपाध्याय ने भावपूर्ण वचनों से प्रशिक्षणार्थियों को प्रेरणा दी। दि० ३० दिसम्बर को शिविर के सभी प्रशिक्षणार्थियों को प्रमाण-पत्र वितरण किये गये। १२ विशेष प्रमाण-पत्र भी चुने हुए युवकों को उनकी असामान्य योग्यता के लिए दिये गये, जिनमें से ५ प्रमाण-पत्र दिव्यायन के प्रशिक्षणार्थियों को मिले।

दिनांक ३१ दिसम्बर को दक्षिणेश्वर, काशीपुर उद्यानवाटी आदि का दर्शन किया गया। इसके बाद बागबाजार में 'उद्बोधन' भवन का दर्शन हुआ, जहाँ माँ सारदादेवी कई वर्षों तक रही थीं। तदुपरांत सभी, रामकृष्ण मिशन के नरेन्द्रपुर को देखने गये। वहाँ पर स्कूल, कॉलेज, छात्रावास अन्ध विद्यालय, ऑडिटोरियम, आदि देखने के बाद सभी ने वहीं भोजन किया। ३१ तारीख को ही दिव्यायन के प्रशिक्षणार्थी हावड़ा से रवाना होकर १ जनवरी १९८४ को दिव्यायन पहुँचे।

SRI RAMAKRISHNA MISSION ASHRAMA

(Relief and Rehabilitation)

26, DORAISWAMI ROAD : THYAGARAYANAGAR : MADRAS-600 017

APPEAL

SRI LANKA REFUGEES RELIEF WORK

We request you to kindly help us by generous donation to continue our Relief work to the Sri Lanka Refugees at Mandapam Camp, Ramnad District (Near Rameswaram). As the ferry services will be starting from 4-1-84 between Talaimannar and Rameswaram, many refugees are expected to come to India. We need more and more funds.

The figures as on 15-12-1983 are.—

1. Distributed 275 sets of vessels worth of Rs. 14250/-
2. 300 mats worth of Rs. 1800/-
3. New Clothes worth of Rs. 56,000/
4. Old clothes distributed 6463 numbers
5. a) Cooked food distributed so far to 65110 persons
   b) 300 kg Rava distributed to 1812 persons
   c) 300 kg Rice distributed to 1134 persons
6. Medicines worth of Rs. 23,300/- given free
7. Total number of patients treated :- 5079
8. New clothes stitched free of cost :- 1380 numbers
9. Education for Children :
   a) 63 children were admitted in free hostels.
   b) 141 children were admitted in the local schools and were provided all the necessary books etc.

Collections Rs. 135,975-72

Distribution, Feeding etc. Rs. 137,428-87

The philanthropic and Public spirited persons are requested to give their utmost help to rescue the suffering refugees of Sri Lanka from their troubles.

Donations may please be sent to :
"SRI RAMAKRISHNA MISSION ASHRAMA"
(Relief and Rehabilitation)
26, Doraiswami Road, T' Nagar, Madras—17."

Yours in the Lord,
SWAMI UDDHAVANANDA
Secretary

It may please be noted that contributions to the FUND are exempted from Income Tax under Section 80G of the I. T. Act.

पवित्र होना और दूसरों का हित करना— सभी उपासनाओं का यही सार है। जो दरिद्रों में, दुर्बलों में और रोगियों में शिव को देखता है, वही शिव की सच्ची पूजा करता है और यदि वह केवल प्रतिमा में शिव को देखता है, तो उसकी पूजा मात्र प्रारंभिक है।

— स्वामी विवेकानन्द

मंगल कामनाओं के साथ :

मंगला मेटल्स

मेटल कन्टेनर के निर्माता

एवम् जेनरल आर्डर सप्लायर्स

ए २, पत्रकार नगर,

कंकड़बाग कॉलोनी,

पटना—२०

This is the gist of all worship—to be pure and to do good to others. He who sees Siva in the poor, in the weak, and in the diseased, really worships Siva; and if he sees Siva only in the image, his worship is but preliminary.

—SWAMI VIVEKANANDA

WITH WEST COMPLIMENTS FROM :

MANGALA METALS

(Manufacturer of Metal Container and General Order Suppliers)

A 2, Patrakar Nagar,

Kankarbagh Colony,

PATNA—20